विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ६ जून २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
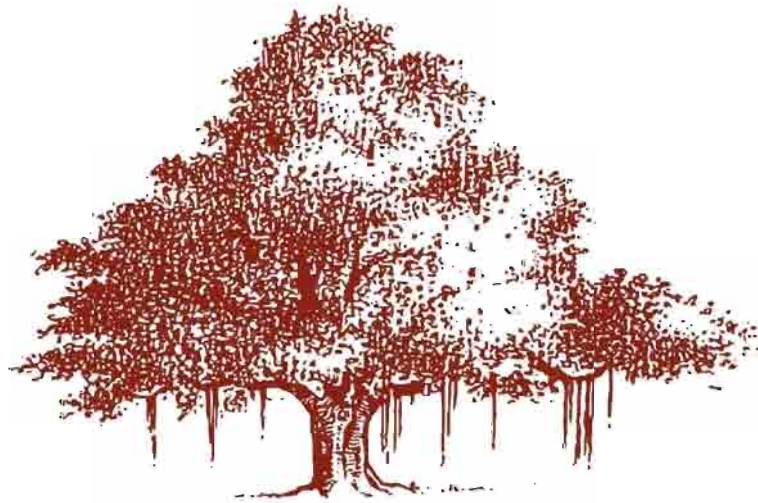
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्री रामकृष्ण मठ
रिजर्व लाइन, न्यू नाथम रोड,
मदुरै ६२५-०१४ (तमिलनाडु)
फोन : ०४५२-६८०२२४
E-mail : rkmath@vsnl.com

सेवा के लिए आमंत्रण

प्रिय मित्र,

तीर्थनगरी मदुरै जगन्माता मीनाक्षी की दैवी कृपा से परिपूर्ण है। प्राचीन काल से ही यह पावन तीर्थ तमिलनाडु की सांस्कृतिक राजधानी के रूप में जाज्वल्यमान है।

१८९३ ई. में स्वामी विवेकानन्द पहली बार मदुरै में पधारे थे। तदुपरान्त १८९७ ई. में अपनी द्वितीय यात्रा के समय उन्होंने 'हमें जानने योग्य बातें' विषय पर एक प्रेरणादायी व्याख्यान दिया था। माँ श्री सारदा देवी का भी मदुरै में आगमन हुआ था। यह भी एक बड़े महत्त्व की बात है कि श्रीरामकृष्ण के स्वामी ब्रह्मानन्द, शिवानन्द, रामकृष्णानन्द, प्रेमानन्द, निरंजनानन्द, सुबोधानन्द, विज्ञानानन्द तथा अभेदानन्द आदि संन्यासी शिष्यों ने भी मदुरै की यात्रा की थी।

मदुरै का वर्तमान श्री रामकृष्ण मठ १९८७ ई. की मई में बेलूड़ स्थित श्री रामकृष्ण मठ की एक आधिकारिक शाखा के रूप में सम्बद्ध हुआ।

भावी सेवा-योजनाएँ -

(१) पूजा-सेवा : नित्यपूजा, विभिन्न उत्सवों का आयोजन और मन्दिर तथा उसके परिसर के रख-रखाव के लिए एक स्थायी कोष की आवश्यकता है।

(२) शैक्षणिक सेवाएँ : शैक्षणिक कार्य आरम्भ करने के लिए मठ के निकटस्थ भूखण्ड खरीदने की योजना है।

(क) प्राथमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के निर्धन छात्रों के लिए एक निःशुल्क ट्यूशन (उपशिक्षण) केन्द्र खोला जायेगा, जिसमें प्रतिदिन सायं ५ से ७ बजे तक पढ़ाई होगी।

(ख) निर्धन बच्चों के लिए स्कूल-ड्रेस, कॉपियाँ तथा छात्रवृत्ति की व्यवस्था।

(ग) युवकों को सुसंस्कृत बनाने तथा उनके व्यक्तित्व-विकास में सहायता करने हेतु एक 'विवेकानन्द युवा समिति' आरम्भ करना।

(घ) बच्चों को अपने सांस्कृतिक आदर्शों से परिचित कराने और उन्हें चरित्र-निर्मात्री तथा मनुष्य बनानेवाली शिक्षा देने हेतु 'विवेकानन्द बालक संघ' की स्थापना।

(३) धर्मार्थ चिकित्सालय · साधनहीन लोगों के लाभार्थ समस्त उपकरणों से सज्जित एक धर्मार्थ चिकित्सालय हेतु भूमि खरीदने तथा निर्माण कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होगी।

(४) सार्वजनिक ग्रन्थालय : २०० सदस्यों के लिए उपयुक्त एक सार्वजनिक ग्रन्थालय बनाने की योजना है। इसके लिए भी भूमि-ग्रहण, भवन-निर्माण और मूल्यवान पुस्तकें क्रय करने हेतु धन की आवश्यकता होगी।

(५) साधु-निवास, मठ-कार्यालय, पुस्तक-विक्रय केन्द्र तथा कर्मचारियों के आवास हेतु भवनों का भी निर्माण किया जायेगा।

निर्धनों, दीन-दुखियों तथा पीड़ितों के सेवार्थ उपरोक्त अत्यावश्यक योजनाओं को पूरा करने के लिए तीन करोड़ रुपयों की जरूरत है।

तमिलनाडु के दक्षिणी जिलों में जातिवाद अत्यन्त प्रबल होने के कारण वहाँ श्रीरामकृष्ण का प्रेम तथा शान्ति का सार्वभौमिक सन्देश और स्वामी विवेकानन्द के 'नररूपी नारायण की सेवा' के रूप में व्यावहारिक वेदान्त के सन्देश की विशेष आवश्यकता है।

हम आम जनता, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, धर्मार्थ न्यासों तथा संस्थाओं से अपील करते हैं कि वे आगे बढ़कर इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक दान करें। हम आप में से प्रत्येक से सहायता का हाथ बढ़ाने का अनुरोध करते हैं। छोटी छोटी बूँदों से ही समुद्र बनता है। अतः कृपया आप भी अपनी क्षमता के अनुसार सहयोग करें।

उपरोक्त सेवा-योजनाओं में से किसी भी योजना के लिए कोई भी अपने प्रियजनों या परिजनों के नाम पर स्थायी कोष में दान कर सकता है।

छोटी हो या बड़ी, दान की हर राशि का कृतज्ञतापूर्वक प्राप्ति-संवाद भेजा जायेगा। मठ को दिये गये दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं।

दान की राशि आप चेक, डिमाण्ड ड्राफ्ट, मनिआर्डर के द्वारा 'रामकृष्ण मठ, मदुरै' ('RAMAKRISHNA MATH, MADURAI') के नाम बनवाकर इस पते पर भेज सकते हैं -

The President
Sri Ramakrishna Math
Reserve Line, MADURAI 625-014

धन्यवाद तथा आपके कल्याण हेतु प्रार्थना सहित

प्रभु की सेवा में

(स्वामी कमलात्मानन्द)

अध्यक्ष

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में प्रम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ३९ जून २००१ अंक ६

नीति-शतकम्

वरं पक्षच्छेदः समद-मघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्-बहुलदहनोद्गारगुरुभिः ।
तुषाराद्रेः सूनोरहह! पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ।।३६।।

अन्वयः – समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः तुषाराद्रेः सूनोः पक्षच्छेदः वरम् । अहह! पितरि क्लेशविवशे पयसां पत्युः पयसि असौ सम्पातः च उचितः न।

भावार्थ – गर्वयुक्त इन्द्र द्वारा छोड़े गये वज्र के प्रहारों से ऊपर उठती हुए अग्निपुंज की भयंकर ज्वाला से हिमालय के पुत्र मैनाक के पंख कट जाना उचित था, परन्तु पिता को दुखी छोड़कर उसका समुद्र के जल में गिर पड़ना उचित नहीं था।

सन्दर्भ – पुराणों की कथा के अनुसार सत्युग में पर्वतों के भी पंख हुआ करते थे। वे उड़कर जहाँ कहीं भी बैठते, उनके नीचे दबकर अनेक पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं का नाश हो जाता था। उनके उड़ने से देवता, ऋषि तथा समस्त प्राणियों को उनके गिरने की आशंका से भी भय होने लगा। तब संसार में व्यवस्था की स्थापना हेतु देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से सभी पर्वतों के पंख काट डाले। जिस समय हिमालय के पंख काटे जा रहे थे, उस समय उसका पुत्र मैनाक भागकर समुद्र में छिप गया। वाल्मीकि रामायण (सुन्दर-काण्ड १/१२२-१२६) में मैनाक-हनुमान संवाद में भी यह कथा संक्षेप से आयी है और कालिदास ने अपने कुमार-सम्भव (१.२०) में भी इस कथा का उल्लेख किया है।

तात्पर्य – इस श्लोक के माध्यम से कवि यह बताना चाहता है कि विपत्ति पड़ने पर अपने स्वजनों के साथ कष्ट या हानि सह लेना अच्छा है, न कि उन्हें विपत्ति में छोड़कर अपनी प्राणरक्षा के लिए पलायन कर जाना।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

— १ —

(आसावरी – एकताल)

(प्रभु) रामकृष्ण, मैं तुम्हारी शरण आज आया।
(सब) विषय-रोग दूर हुए, परम मंत्र पाया ।।

अब से तुम ही मात-पिता, तुम ही बन्धु मेरे,
याद करूँगा तुम्हें ही साँझ औ सबेरे,
चित्त मधुप पादपद्म में सतत लुभाया ।।

सौंपता हूँ मैं तुम्हें ही योगक्षेम अपना,
अब तो मेरा काम यही महामंत्र जपना;
छोड़ कुरस अब तो मुझे नामरस ही भाया ।।

— २ —

(भैरवी – एकताल)

विगत मोह निशा घोर, भई मधुर कृपा भोर,
भागे जग-जीवन से, काम-क्रोध-लोभ चोर ।।

प्रभु का लीलावतार, माया का घटा जोर,
करुणा की वायु बहे, शीतल सब ओर-छोर ।।

फैला था इस जग में, स्वार्थ-कलह-द्वन्द्व घोर,
लेकिन अब शान्तिवारि, लेती भव में हिलोर ।।

स्तब्ध हुआ त्रिभुवन में, जड़ विवादियों का शोर,
सभी चलें सत्पथ पर, धर उन्हीं की प्रेमडोर ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (२)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका का अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

व्यक्तित्व-विकास

हम ऐसा मनुष्य देखना चाहते हैं, जिसका विकास समन्वित रूप से हुआ हो – हृदय से विशाल, मन से उच्च और कर्म में महान्। ... हम ऐसा मनुष्य चाहते हैं, जिसका हृदय संसार के दु:ख-दर्दों को गम्भीरता से अनुभव करे। ... और हम ऐसा मनुष्य (चाहते हैं) जो न केवल अनुभव कर सकता हो, वरन् वस्तुओं के अर्थ का भी पता लगा सके, जो प्रकृति और बुद्धि के हृदय की गहराई में पहुँचता हो। हम ऐसा मनुष्य (चाहते हैं), जो यहाँ भी न रुके, (वरन्) जो (भाव और वास्तविक कार्यो के द्वारा अर्थ का) पता लगाना चाहे। हम मस्तिष्क, हृदय और हाथों का ऐसा ही सम्मिलन चाहते हैं।[१]

व्यक्तित्व का ही महत्त्व है

हमारे आसपास की दुनिया में क्या हो रहा है, यह तो तुम देख ही रहे हो। अपना प्रभाव चलाना, यही दुनिया है। हमारी शक्ति का कुछ अंश तो हमारे शरीर-धारण के उपयोग में आता है और बाकी हर कण दिन-रात दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में व्यय होता रहता है। हमारा शरीर, हमारे गुण, हमारी बुद्धि तथा हमारा आत्मिक बल – ये सब लगातार दूसरों पर प्रभाव डालते आ रहे हैं। इसी प्रकार, इसके उल्टे, दूसरों का प्रभाव भी हम पर पड़ता चला आ रहा है। हमारे आसपास यही चल रहा है। एक स्थूल दृष्टान्त लो। एक मनुष्य तुम्हारे पास आता है, वह खूब-पढ़ा लिखा है, उसकी भाषा भी सुन्दर है, वह तुमसे एक घण्टा बात करता है, तो भी वह अपना असर नहीं छोड़ पाता। दूसरा व्यक्ति आता है और इने-गिने शब्द बोलता है। शायद वे व्याकरण-सम्मत तथा व्यवस्थित भी नहीं होते, तथापि वह खूब असर कर जाता है। ऐसा तो तुममें से बहुतों ने अनुभव किया होगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल शब्दों द्वारा ही नहीं होता। न केवल शब्द, अपितु विचार भी, शायद प्रभाव का एक-तिहाई अंश ही उत्पन्न करते होंगे, परन्तु शेष दो-तृतियांश प्रभाव तो व्यक्तित्व का ही होता है। जिसे तुम वैयक्तिक चौम्बकत्व कहते हो, वही प्रकट होकर तुमको प्रभावित कर देता है।

हम लोगों के कुटुम्बों में मुखिया होते हैं। इनमें से कोई कोई अपना घर चलाने में सफल होते हैं, परन्तु कोई कोई नहीं होते। ऐसा क्यों है? जब हमें असफलता मिलती है, तो हम दूसरो को कोसते है। ज्योही मुझे असफलता मिलती है, त्योंही मैं कह उठता हूँ कि अमुक अमुक मेरी असफलता के कारण हैं। असफलता आने पर मनुष्य अपनी दुर्बलता तथा दोष को स्वीकार नहीं करना चाहता। प्रत्येक मनुष्य यह दिखलाने की कोशिश करता है कि वह निर्दोष है; और सारा दोष वह किसी व्यक्ति पर, किसी वस्तु पर, और अन्ततः दुर्भाग्य पर मढ़ना चाहता है। जब घर का मुखिया असफल हो, तो उसे स्वयं से पूछना चाहिये कि कुछ लोग अपना घर कैसे इतनी अच्छी तरह से चला सकते हैं और दूसरे क्यों नहीं चला पाते। तब तुम्हें पता चलेगा कि यह अन्तर मनुष्य के ही कारण है – उसकी उपस्थिति और उसके व्यक्तित्व के कारण है।

यदि मानव-जाति के बड़े बड़े नेताओं की बात ली जाय, तो हमें सदा यही दिखायी देगा कि उनका व्यक्तित्व ही उनके प्रभाव का कारण था। अब प्राचीन काल के महान् लेखकों व विचारकों को लो। सच पूछो तो, उन्होंने हमारे सम्मुख कितने असल और सच्चे विचार रखे हैं? अतीतकालीन लोकनायकों की जो रचनाएँ तथा पुस्तकें आज हमें उपलब्ध हैं, उनमें से प्रत्येक का मूल्यांकन करो। केवल मुट्ठी भर ही असल, नये तथा स्वतंत्र विचार अभी तक इस संसार में सोचे गये हैं। उन लोगों ने जो विचार हमारे लिये छोड़े हैं, उनको उन्हीं की पुस्तकों में से पढ़ो, तो वे हमें कोई दिग्गज नहीं प्रतीत होते, तथापि हम जानते हैं कि अपने समय में वे दिग्गज व्यक्ति थे। इसका कारण क्या है? वे जो बहुत बड़े प्रतीत होते थे, वह मात्र उनके सोचे हुये विचारों या उनकी लिखी हुई पुस्तकों के कारण नहीं था, और न उनके दिये हुये भाषणों के कारण ही था, वरन् किसी एक दूसरी ही बात के कारण, जो अब निकल गयी है, और वह है – उनका व्यक्तित्व। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, दो-तिहाई अंश व्यक्तित्व होता है और बाकी एक-तिहाई अंश होता है – मनुष्य की बुद्धि और उसके कहे हुये शब्द। सच्चा मनुष्य या उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है, जो हम पर प्रभाव डालती है। कर्म तो हमारे व्यक्तित्व की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं। व्यक्ति होने पर कर्म तो होंगे ही – कारण के रहते हुये कार्य का आविर्भाव अवश्यम्भावी है।

सारी शिक्षा, समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिये। पर हम यह न करके केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहाँ सिर्फ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न

करने से क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है – मनुष्य का विकास। वह मनुष्य, जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू-सा कर देता है, शक्ति का एक महान् केन्द्र है और जब वह मनुष्य तैयार हो जाता है, वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी को कार्यशील बना देता है।

व्यक्तित्व-विकास के नियम

योगशास्त्र यह दावा करता है कि उसने उन नियमों को ढूँढ़ निकाला है, जिनके द्वारा इस व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। इन नियमों तथा उपायों की ओर ठीक ठीक ध्यान देने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और उसे शक्तिशाली बना सकता है। महत्त्वपूर्ण व्यवहारोपयोगी बातों में यह भी एक है और यही समस्त शिक्षा का रहस्य है। इसकी उपयोगिता सार्वदेशीय है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे गरीब, अमीर, व्यापारी या धार्मिक – सभी के जीवन में व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाना ही एक महत्त्व की बात है। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं, जो इन भौतिक नियमों के परे हैं – ऐसा हम जानते हैं। मतलब यह कि भौतिक जगत्, मानसिक जगत् या आध्यात्मिक जगत् – इस तरह की कोई नितान्त स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। जो कुछ है, सब एक तत्त्व है। या हम यों कहेंगे कि यह सब एक शुंडाकार वस्तु है, जो यहाँ नीचे की ओर मोटी या स्थूल है और जैसे जैसे यह ऊँची चढ़ती है, वैसे ही वैसे वह पतली या सूक्ष्म होती जाती है; सूक्ष्मतम को हम आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। जो पिण्ड (अणु) में है वही ब्रह्माण्ड में है। यह हमारा विश्व ठीक इसी तरह का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है और जैसे जैसे यह ऊँचा चढ़ता जाता है, वैसे वैसे वह सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में परमेश्वर रूप बन जाता है।

हम यह भी जानते हैं कि सबसे अधिक शक्ति सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। एक मनुष्य भारी वजन उठाता है। उसकी पेशियाँ फूल उठती हैं और सम्पूर्ण शरीर पर परिश्रम के चिह्न दिखने लगते हैं। हम समझते हैं कि पेशियाँ बहुत शक्तिशाली वस्तु हैं। परन्तु असल में जो पेशियों को शक्ति देती हैं, वे तो धागे के समान पतली नाड़ियाँ (nerves) हैं। जिस क्षण इन तन्तुओं में से एक का भी सम्बन्ध पेशियों से टूट जाता है, उसी क्षण ये पेशियाँ बेकार हो जाती हैं। ये छोटी छोटी नाड़ियाँ किसी अन्य सूक्ष्मतर वस्तु से अपनी शक्ति ग्रहण करती हैं और वह सूक्ष्मतर वस्तु फिर अपने से भी अधिक सूक्ष्म विचारों से शक्ति ग्रहण करती है। इसी तरह यह क्रम चलता रहता है। इसलिए वह सूक्ष्म तत्त्व ही है, जो शक्ति का अधिष्ठान है। स्थूल में होनेवाली गति हम अवश्य देख सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म में होनेवाली गति हम देख नहीं सकते। जब स्थूल वस्तुएँ गति करती हैं, तो हमें उनका बोध होता है और इसलिए हम स्वाभाविक ही गति का सम्बन्ध स्थूल से जोड़ देते हैं; वास्तव में सारी शक्ति सूक्ष्म में ही है। सूक्ष्म मे होने वाली गति हम देख नहीं सकते। शायद इसका कारण यह है कि वह गति इतनी गहरी होती है कि हम उसका अनुभव ही नहीं कर सकते। पर यदि कोई शास्त्र या कोई शोध इन सूक्ष्म शक्तियों के ग्रहण करने में सहायता दे, तो इन शक्तियो का परिणाम-रूप यह व्यक्त विश्व ही हमारे अधीन हो जायेगा। पानी का एक बुलबुला झील के तल से निकलता है, वह ऊपर आता है, परन्तु जब तक कि वह सतह पर आकर फूट नही जाता, तब तक हम उसे देख नहीं सकते। इसी तरह विचार अधिक विकसित होने पर या कार्य में परिणत हो जाने पर ही देखे जा सकते हैं। हम सदा यही कहा करते हैं कि हमारे कर्मो पर, हमारे विचारों पर हमारा अधिकार नहीं है। यह अधिकार हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यदि हम सूक्ष्म गतियों पर नियंत्रण कर सकें, विचार के विचार बनने एवं कार्यरूप में परिणत होने के पूर्व ही यदि उसको मूल में ही अपने अधीन कर सकें, तो इस सबको नियंत्रित कर सकना हमारे लिए सम्भव होगा। अब, यदि ऐसा कोई उपाय हो, जिसके द्वारा हम इन सूक्ष्म कारणों और इन सूक्ष्म शक्तियों का विश्लेषण कर सकें, उन्हें समझ सकें और अन्त में अपने अधीन कर सकें, तभी हम स्वयं अपना शासन चला सकेंगे। और जिस मनुष्य का मन उसके अधीन होगा, वह निश्चय ही दूसरों के मनों को भी अपने अधीन कर सकेगा। इसी कारण पवित्रता तथा नैतिकता सदा धर्म के विषय रहे हैं। पवित्र, सदाचारी मनुष्य स्वयं पर नियंत्रण रखता है। और सारे मन एक ही हैं, समष्टि-मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया, उसने दुनिया की सारी मिट्टी जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्व-अधीन रख सकता है, वह हर मन का रहस्य जानता और हर मन पर अधिकार रखता है।

यदि हम इन सूक्ष्म अंशों को नियंत्रित कर सकें, तो अपने अधिकांश शारीरिक कष्टों को दूर कर सकते हैं; यदि हम सूक्ष्म हलचलों को वश में कर सकें, तो हम अपनी उलझनों को दूर कर सकते सकते हैं; यदि हम इन सूक्ष्म शक्तियों को अपने अधीन कर लें, तो अनेक असफलतायें टाली जा सकती हैं।[२]

व्यक्तित्व के विभिन्न स्तर

मनुष्य का यह स्थूल रूप, यह शरीर, जिसमें बाह्य साधन हैं, संस्कृत में 'स्थूल शरीर' कहा गया है। इसके पीछे इन्द्रिय से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि तथा अहंकार का सिलसिला है। ये तथा प्राण मिलकर जो यौगिक घटक बनाते हैं, उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। ये शक्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित हैं, इतने सूक्ष्म कि शरीर पर लगनेवाला बड़ा-से-बड़ा आघात भी उन्हें नष्ट नहीं कर सकता। शरीर के ऊपर पड़नेवाली किसी

भी चोट के बाद वे जीवित रहते हैं। हम देखते हैं कि स्थूल शरीर स्थूल तत्त्वों से बना हुआ है और इसीलिए वह हमेशा नूतन होता और निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। किन्तु मन, बुद्धि और अहंकार आदि आभ्यन्तर इन्द्रिय सूक्ष्मतम तत्त्वों से निर्मित है, इतने सूक्ष्म कि वे युग युग तक चलते रहते हैं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि कोई भी वस्तु उनका प्रतिरोध नहीं कर सकती, वे किसी भी अवरोध को पार कर सकते हैं। स्थूल शरीर बुद्धिशून्य है और सूक्ष्मतर पदार्थ से बना होने के कारण सूक्ष्म भी है। यद्यपि एक भाग मन, दूसरा बुद्धि तथा तीसरा अहंकार कहा जाता है, पर एक ही दृष्टि में हमें विदित हो जाता है कि इनमें से किसी को भी 'ज्ञाता' नहीं कहा जा सकता। इनमें से कोई भी प्रत्यक्षकर्ता, साक्षी, कार्य का भोक्ता या क्रिया का द्रष्टा नहीं है। मन की ये समस्त गतियाँ बुद्धि-तत्त्व अथवा अहंकार अवश्य ही किसी दूसरे के लिए हैं। सूक्ष्म भौतिक द्रव्य से निर्मित होने के कारण ये स्वयं प्रकाशक नही हो सकतीं। उनका प्रकाशक तत्त्व उन्हीं में अन्तर्निहित नही हो सकता। उदाहरणार्थ इस मेज की अभिव्यक्ति किसी भौतिक वस्तु के कारण नहीं हो सकती। अत: उन सबके पीछे कोई-न-कोई अवश्य है, जो वास्तविक प्रकाशक, वास्तविक दर्शक और वास्तविक भोक्ता है, जिसे संस्कृत में 'आत्मा' कहते हैं – मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का वास्तविक 'स्व'।[३]

देह का नाश तो प्रतिक्षण होता रहता है और मन तो सदा बदलता रहता है। देह तो एक संघात है और उसी तरह मन भी। इसी कारण वे परिवर्तनशीलता के परे नहीं पहुँच सकते। परन्तु स्थूल जड़-तत्त्व के इस क्षणिक आवरण के परे और मन के भी सूक्ष्मतर आवरण के परे, मनुष्य का सच्चा स्वरूप – नित्यमुक्त, सनातन आत्मा अवस्थित है। उसी आत्मा की मुक्ति जड़ और चेतन के स्तरो में व्याप्त है और नाम-रूप द्वारा रंजित होते हुए भी सदा अपने अबाधित अस्तित्व को प्रमाणित करती है। उसी का अमरत्व, उसी का आनन्दस्वरूप, उसी की शान्ति और उसी का दिव्यत्व प्रकाशित हो रहा है और अज्ञान के मोटे-से-मोटे स्तरो के रहते हुए भी वह अपने अस्तित्व का अनुभव कराती रहती है। वही यथार्थ पुरुष है, जो निर्भय है, अमर है और मुक्त है।

अब मुक्ति तो तभी सम्भव है, जब कोई बाह्य शक्ति अपना प्रभाव न डाल सके, कोई परिवर्तन न कर सके। मुक्ति केवल उसी के लिए सम्भव है, जो सभी ब्रन्धनों, सभी नियमों और कार्य-कारण की शृंखला से परे हो। कहने का तात्पर्य यह है कि एक अपरिवर्तनशील (पुरुष) ही मुक्त हो सकता है और इसीलिए अमर भी। यह पुरुष, यह आत्मा, मनुष्य का यह यथार्थ स्वरूप, मुक्त, अव्यय, अविनाशी, सभी बन्धनों से परे है और इसीलिए न तो जन्म लेता है, न मरता है।[४]

प्रत्येक मानवीय व्यक्तित्व की तुलना काँच की चिमनी से की जा सकती है। प्रत्येक के अन्तराल में वही शुभ ज्योति है – दिव्य परमात्मा की आभा – पर काँच के रंगों और उसकी मोटाई के अनुरूप उससे विकीर्ण होनेवाली ज्योति की किरणें विभिन्न रूप ले लेती हैं। प्रत्येक केन्द्रीय ज्योति का सौन्दर्य और आभा समान है; प्रतिभासिक असमानता केवल व्यक्त करनेवाले भौतिक साधनों की अपूर्णता के कारण है। आध्यात्मिक राज्य में हमारा ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर विकास होता जाता है, त्यों त्यों वह माध्यम भी अधिकांश पारभासक होता जाता है।[५]

मानव की दिव्यता

'हे अमृत के पुत्रो!' – कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ! इसी मधुर नाम – 'अमृत के अधिकारी' से तुम्हें सम्बोधित करूँ, तुम मुझे इसकी अनुमति दो। निश्चय ही हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागी हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव-स्वरूप पर घोर लांछन है। तुम उठो! हे सिंहो, आओ और इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम हो अमर आत्मा, मुक्त आत्मा, नित्य और आनन्दमय! तुम जड़ नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो; ज़ड़ तो तुम्हारा दास है, न कि तुम जड़ के दास हो।[६]

(यहाँ तक कि) यह संसार, यह शरीर और मन अन्धविश्वास हैं। तुम हो कितने असीम आत्मा! और टिमटिमाते हुए तारों से छले जाना! यह लज्जास्पद दशा है। तुम दिव्य हो; टिमटिमाते हुए तारों का अस्तित्व तो तुम्हारे कारण है।[७]

हर एक वस्तु जो सुन्दर, बलयुक्त तथा कल्याणकारी है और मानव प्रकृति में जो कुछ भी शक्तिशाली है, वह सब उसी दिव्यता से उद्भूत है। यह दिव्यता यद्यपि बहुतों में अव्यक्त रहती है, मूलत: मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं है, सभी समान रूप से दिव्य हैं। यह ऐसा ही है, जैसे पीछे एक अनन्त समुद्र है और उस अनन्त समुद्र में हम और तुम लोग इतनी सारी लहरें हैं और हममें से हर एक उस अनन्त को बाहर व्यक्त करने के निमित्त प्रयत्नशील है। अत: हममें से हर एक को वह सत्, चित् तथा आनन्द रूपी अनन्त समुद्र अव्यक्त रूप से, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में तथा स्वरूपत: प्राप्त है। उस दिव्यता की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक शक्ति से ही हम लोगों में विभिन्नता उत्पन्न होती है।[८]

आत्मा की इस अनन्त शक्ति का प्रयोग जड़ वस्तु पर होने से भौतिक उन्नति होती है, विचार पर होने से बुद्धि का विकास होता है और स्वयं पर ही होने से मनुष्य ईश्वर बन जाता है।

अपने आभ्यन्तरिक ब्रह्मभाव को प्रकट करो और उसके चारों ओर सब कुछ समन्वित होकर विन्यस्त हो जायेगा।[९]

जीवन का लक्ष्य सुख नहीं है

मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नहीं वरन् ज्ञान है। सुख और आनन्द विनाशी हैं। अत: सुख को चरम लक्ष्य मान लेना भूल है, संसार में सब दु:खों का मूल यही है कि मनुष्य मूर्खतावश सुख को ही अपना आदर्श समझ लेता है। पर कुछ समय के बाद मनुष्य को यह बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नहीं, वरन् ज्ञान है तथा सुख और दु:ख दोनों ही महान् शिक्षक हैं और जितनी शिक्षा उसे भलाई से मिलती है, उतनी ही बुराई से भी। ... चरित्र को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने में भलाई और बुराई, दोनों का समान अंश रहता है, और कभी कभी तो दु:ख सुख से भी बड़ा शिक्षक हो जाता है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश दृष्टान्तों में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दु:ख ने तथा सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है एवं प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनके अन्त:स्थ अग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।[१०]

इन्द्रिय-सुख मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही जीवमात्र का लक्ष्य है। हम देखते हैं कि एक पशु जितना आनन्द अपने इन्द्रियों के माध्यम से पाता है, उससे अधिक आनन्द मनुष्य अपनी बुद्धि के माध्यम से अनुभव करता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक प्रकृति का बौद्धिक प्रकृति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य का परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही माना जाता है। इस ज्ञान के होते ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार की सारी चीजें मिथ्या, छाया मात्र हैं, वे परम ज्ञान और आनन्द की तृतीय या चतुर्थ स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं।[११]

केवल मूर्ख ही इन्द्रियों के पीछे दौड़ते हैं। इन्द्रियों में रहना सरल है, खाते-पीते और मौज उड़ाते हुए पुराने ढर्रे में चलते रहना सरलतर है। किन्तु आजकल के दार्शनिक तुम्हें जो बतलाना चाहते हैं, वह यह है कि मौज उड़ाओ, किन्तु उस पर केवल धर्म की छाप लगा दो। इस प्रकार का सिद्धान्त बड़ा खतरनाक है। इन्द्रियों में ही मृत्यु है। आत्मा के स्तर पर का जीवन ही सच्चा जीवन है; अन्य सब स्तरों का जीवन मृत्यु-स्वरूप है। यह सम्पूर्ण जीवन एक व्यायामशाला है। यदि हम सच्चे जीवन का आनन्द लेना चाहते हैं, तो हमें इस जीवन के पार जाना होगा।[१२]

❖ (क्रमश:) ❖

---

१. विवेकानन्द साहित्य ३/२१४ २. वही, ४/१७०-७४
३. वही, ८/८५ ४. वही, ९/२३१ ५. वही, १/२५७
६. वही, १/१२ ७. वही, ९/१५७ ८. वही, ९/११८
९. वही, ९/३७९-८० १०. वही, ३/३ ११. वही, ४/१९०
१२. वही, ३/२६०

मानस-रोगों से मुक्ति (८/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन चौवालीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

लक्ष्मण जी के प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं – प्रभु ने देखा कि लक्ष्मण जी सामने खड़े हैं, तिनका तोड़कर खड़े हैं। और यह तिनका कौन-सा है? जमीन पर पड़ा हुआ तिनका उठाकर तोड़ देना तो किसी के लिए भी बड़ा सहज है, पर भक्त या साधक के जीवन मे जो है, वह साधारण तिनका नहीं है। जिस प्राण को लोग प्रियतम वस्तु मानते हैं, दशरथ जी ने उसी को तिनका बनाकर रामप्रेम में न्यौछावर कर दिया।

किसी ने गोस्वामी जी से कहा कि आपने इन नन्हें बालक के रूप में भगवान श्रीराम का इतना सुन्दर वर्णन किया है, हम इन्हें क्या न्यौछावर करें? चावल या सरसों या तिनका? गोस्वामी जी कहते हैं – रे मूर्ख, क्या तू इन साधारण वस्तुओं को उन पर न्यौछावर करेगा? – तो फिर इस बालक पर क्या न्यौछावर करें? गोस्वामी जी 'कवितावली' रामायण में कहते हैं – तू अपने प्राणों को ही इन पर न्यौछावर कर दे –

जड़ डारु दे, प्राण निछावर कर।

लक्ष्मण जी हाथ जोड़े हुए भगवान राम के समक्ष उनके साथ वन जाने की अनुमति पाने के लिए खड़े हैं। श्रीराम ने देखा तो तत्काल समझ गये कि लक्ष्मण मेरी सेवा करने के लिए साथ जाना चाहते हैं। पर उन्होंने लक्ष्मण जी को उनके कर्तव्यों की याद दिलाकर उन्हें अयोध्या में ही रहने का आदेश दिया। भगवान बोले – लक्ष्मण, तुम अपने सम्बन्धियों तथा उनके प्रति अपने कर्तव्य पर दृष्टि डालो –

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं।।
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू।।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।। २/७०/२,५-६

– घर में भरत-शत्रुघ्न नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मन में मेरा दु:ख है। अत: तुम यहीं रहकर सबको सन्तुष्ट करते रहो। अन्यथा, हे तात! बड़ा दोष होगा, क्योंकि जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है।

परन्तु लिखा हुआ है कि लक्ष्मण जी ने भगवान राम के उपदेश को स्वीकार नहीं किया। अब प्रश्न उठता है कि क्या लक्ष्मण जी अपने कर्तव्य च्युत नहीं हुए? स्वयं भगवान राम आदेश दे रहे हैं, कर्तव्य का उपदेश दे रहे हैं, परन्तु लक्ष्मण जी उसका पालन नहीं कर रहे हैं। इसका क्या तात्पर्य है? भगवान राम जानते थे कि लक्ष्मण न तो मेरा उपदेश सुनेंगे और न ही उसे क्रियान्वित करेंगे। इसलिए कि भगवान जिस सीमा से उपदेश दे रहे थे, लक्ष्मण जी उससे पार हो चुके थे। जैसे यदि आप किसी से कहें कि आप टिकट लेकर गाड़ी पर चढ़िए, तो यह निर्देश उसी को दिया जा सकता है, जो उस गाड़ी में बैठकर जाना चाहता हो। परन्तु जो उस गाड़ी में नहीं बैठना चाहता, गाड़ी जहाँ जा रही है वहाँ नहीं जाना चाहता, तो आप उसे बाध्य नहीं कर सकते कि वह टिकट ले ले। श्री राघवेन्द्र की बात सुनकर लक्ष्मण जी के मुख से जो बात निकल गयी, वह सुनने में बड़ी अटपटी है। उन्होंने कहा – महाराज, मैं तो माता, पिता, गुरु – किसी को नहीं जानता –

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।। २/७२/४

परन्तु ऐसा बोलना क्या अशिष्टता नहीं है? गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान ने लक्ष्मण जी को हाथ जोड़े और देह-गेह से नाता तोड़े हुए देखा –

राम बिलोकि बंधु कर जोरें।
देह गेह सब सन तृनु तोरें।। २/७०/६

लक्ष्मण जी वस्तुत: न तो देह में रह गये हैं और न गेह में। यदि देह में रहते, तो देह के सम्बन्धों के प्रति कर्तव्य-पालन की बाध्यता है और उसे यदि पूरा नहीं करते, तो कर्तव्यच्युत हो जाते। और यदि गेह में होते, तो उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का पालन करना पड़ता।

कई लोगों के मन में उर्मिला को लेकर बड़ी व्यग्रता रहती है और वे लोग गोस्वामी जी को बड़ी उलाहना देते हैं कि उर्मिला के इतने उत्कृष्ट प्रेम पर गोस्वामी जी कुछ तो लिखते! इसमें सन्देह नहीं कि उर्मिला का प्रेम और त्याग महानतम है; परन्तु लक्ष्मण जी जिस मनोभूमि पर खड़े हैं, वहाँ तो राम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यदि गेह में रहते तो गृहिणी की याद रहती, देह में रहते तो माता-पिता की याद रहती। जब देह तथा गेह को श्रीराम पर न्यौछावर करके छोड़ा जा चुका है, तो ऐसी परिस्थिति में उनका भला कौन-सा कर्तव्य बाकी रहा? अन्तत: भगवान राम को लक्ष्मण की ही बात माननी

पड़ी। वे बोले – लक्ष्मण, मैं समझ गया। वह बात तो ठीक थी, पर शायद तुम्हारे लिए नहीं। इसलिए अब माँ से विदा माँग आओ और जल्दी वन को चलो –

मागहु बिदा मातु सन जाई ।
आवहु बेगि चलहु बन भाई ।। २/७३/१

इसका अभिप्राय यह है कि अपने प्रिय को दृष्टिदोष से बचाने के लिए यह जो तिनका तोड़ने की पद्धति है, साधक के जीवन में इसकी सार्थकता यही है कि परम मूल्यवान वस्तु के प्रति भी उसके मन में कोई प्रलोभन न हो –

सुमिरत रामहि तजहिं जन
तृण सम विषय विलासु ।। २/१४०

– श्री रामचन्द्र का स्मरण करने से ही भक्तगण भोग-विलासों को तिनके के समान त्याग देते हैं।

यह तृण शब्द 'मानस' में बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त अपने प्रभु श्रीराम के लिए बड़ी-से-बड़ी वस्तु को भी छोड़ देता है।

सुमित्रा अम्बा ने श्रीराम की आँखें बन्द कर दीं। इसका अभिप्राय यह है कि साधक यदि अपने सौन्दर्य, अपनी साधना और सद्‌गुणों को स्वयं ही देखने लग जाय, तब तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। दर्पण देखने की सार्थकता इसमें नहीं है कि व्यक्ति उसके सामने खड़ा हो जाय और मुग्ध होकर यह सोचने लगे कि मैं कितना सुन्दर हूँ। तब तो दर्पण देखने से बड़ा अनर्थ हो जायगा। इससे उसमें अभिमान की वृद्धि होगी।

एक बड़ा प्रसिद्ध ऐतिहासिक आख्यान है। किसी प्रसिद्ध बादशाह की पत्नी के पास एक बड़ा मूल्यवान शीशा था। दासी से उसे लाने को कहा गया और लाते समय उसके हाथ से गिरकर वह शीशा टूट गया। दासी डर से काँपने लगी कि इतना मूल्यवान शीशा मुझसे टूट गया। जब बेगम ने दासी को फिर से पुकारकर शीशा लाने को कहा, तो घबराहट में दासी के मुख से निकल गया कि शीशा तो टूट गया। परन्तु बेगम बड़ी उदार और कविहृदय थी। उसने एक बड़ी मधुर बात कही। कहा – चलो, कोई बात नहीं, अभिमान का साधन ही टूट गया। मैं उसमें अपनी सुन्दरता को देखा करती थी। अब न सुन्दरता देखनी है और न अभिमान करना है।

दर्पण में दोनों बातें हैं। एक तो दर्पण में हम अपना सौन्दर्य देखकर यह अभिमान कर सकते हैं कि हम कितने सुन्दर हैं; या देखें कि हमारे शरीर में कहाँ मलिनता आ गयी है। आत्मनिरीक्षण के समय जब व्यक्ति अपने गुण-ही-गुण देखता है, तो अभिमान आता है और जब उसकी दृष्टि अपने दोषों पर जाती है, तो वह उन दोषों को दूर करने की चेष्टा करता है। दर्पण देखने की सार्थकता तो यही है कि व्यक्ति उसमें अपने दोषों को देखे और उन्हें दूर करने का प्रयास करे।

सुमित्रा अम्बा साक्षात् उपासनामयी हैं। वे भक्तों का स्वभाव बताते हुए कहती हैं – जो गुणों को तुम्हारा और दोषो को अपना समझता है, जिसे सब प्रकार से अपना ही भरोसा है और जिसे रामभक्त प्रिय लगते हैं, उसी के हृदय में तुम सीता-सहित निवास करते हो –

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा ।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही ।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही ।। २/१३१/३-४

इस प्रकार सांकेतिक रूप से भक्त के लक्षण बताये गये हैं। भगवान राम का भी अपने आपको ईश्वर के रूप में देखना स्वयं ईश्वर की ईश्वरता है।

रूप रासि नृप अजिर बिहारी ।
नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ।। ७/७७/८

– राजा दशरथ जी के आँगन में विहार करनेवाले रूप की राशि श्री रामचन्द्र अपनी परछाहीं देखकर नाचते हैं।

ईश्वर की दृष्टि में यही आत्मारामता है, पूर्णकामता है; परन्तु उन्हें बालक के रूप में देखकर माँ कहती हैं – नही राम, तुम्हारी सुन्दरता देखकर दूसरे नाचें, यह तो ठीक है, परन्तु अपना प्रतिबिम्ब देखकर तुम्हारा स्वयं नाचना ठीक नही है। यह मानो साधकों के लिए एक संकेतसूत्र है।

दो प्रकार की दृष्टियाँ और उनसे बचने के उपाय बताये गये। माँ अपनी दृष्टि से बचाने के लिए तिनका तोड़ती है और स्वयं राम की ही दृष्टि राम को न लग जाय, इसलिए माँ अपने हाथों से उनकी आखें ढँक लेती हैं। दूसरी ओर जब राम दूध नहीं पी रहे हैं, तो माताओं को उनके कष्ट-निवारण का कोई उपाय नहीं सूझा और तब गुरु वशिष्ठ को बुलावा भेजा गया।

अब सद्‌गुरु कौन है? वही जो साधक को ऐसी बुरी दृष्टि से बचा ले। यही सद्‌गुरु की कृपा है। इस कृपा का स्वरूप यह आता है कि वे आकर श्रीराम के सिर पर हाथ रख देते हैं। वहाँ पर गोस्वामी जी उस मंत्र का भी उल्लेख करते हैं, जिसके द्वारा उन्होंने झाड़-फूँक की। वह मंत्र कौन-सा था?

सुनत आइ ऋषि कुस हरे
नरसिंह मंत्र पढ़े,
जो सुमिरत भय भीके ।। (गीतावली, १२/३)

ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार के अनिष्ट-निवारण के लिए भगवान नृसिंह का मंत्र सबसे श्रेष्ठ मंत्र है। गुरु वशिष्ठ ने उसी नृसिंह मंत्र का उच्चारण किया और उससे भगवान राम को लगी हुई नजर दूर हो गयी। अब भगवान राम कौन थे? वे स्वयं ही तो नृसिंह थे – उन्होंने ही तो मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन और परशुराम के शरीर धारण किये थे –

मीन कमठ सूकर नरहरी ।
बामन परसुराम बपु धरी ।। ६/११०/७

श्रीकृष्ण-लीला में तो एक बड़े विनोद की बात आपने सुनी होगी – माँ यशोदा ने श्रीकृष्ण का शृंगार किया और उन्होंने खेलते हुए अपने सारे शरीर पर कीचड़ लपेट लिया। माँ ने जब देखा, तो उन्हें क्रोध आ गया। वे कृष्ण को डाँटने लगीं। बोलीं – तेरी वृत्ति को देखकर मैं समझ गयी कि तू पिछले जन्म में क्या था ! प्रभु बड़े आश्चर्य के साथ माँ की ओर देखने लगे, मानो पूछ रहे हों कि – माँ, तू कैसे जान गयी? अच्छा बता तो, मैं पूर्वजन्म में क्या था? माँ ने कह दिया – तू पिछले जन्म में अवश्य ही सूअर रहा होगा, क्योंकि सूअर को ही तो कीचड़ से इतना प्रेम होता है। वही पिछले जन्म की कीचड़ में लिपटने की थोड़ी आदत लेकर चले आये –

त्वं शूकरोऽसि गत जन्मनि पूतना रे।

प्रभु ने मन-ही-मन माँ को प्रणाम करके बोले – "माँ, तूने तो गुस्से में भी सत्य को पकड़ लिया। सचमुच ही मैं सूअर बन चुका हूँ। गुस्से में भी तू सत्य ही देख रही है, सत्य ही कह रही है। तेरी यह बात बिल्कुल सही है।"

तो नृसिंह मंत्र से श्रीराम की झाड़-फूँक की गयी। गुरु वशिष्ठ ने नृसिंह-मंत्र का उच्चारण किया और इसके परिणाम-स्वरूप श्रीराम को जो नजर लगी थी, वह दूर हो गयी। माँ ने दूध पिलाया और वे पीने लगे। माताएँ प्रसन्न हो गयीं। इस नृसिंह-मंत्र पर यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में विचार करें, तो मंत्रों में जो शक्ति है, वह तो साधना में मान्य है ही, परन्तु नृसिंह-मंत्र में क्या भावना निहित है?

अलग अलग काल में अलग अलग अवतार होते हैं और प्रत्येक अवतार की अपनी विलक्षणता होती है। कोई अवतार किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए और कोई अवतार किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए – इस प्रकार अलग अलग अवतारों से अलग अलग उद्देश्यों की पूर्ति होती है। वैसे ही नृसिंह-अवतार भी है। नृसिंह भगवान का चरित्र बड़ा संक्षिप्त है, अन्य अवतारों की भाँति इनके चरित्र में उतना विस्तार नहीं है। परन्तु यह जो संकेत दिया गया कि नृसिंह-मंत्र से दृष्टिदोष दूर हो जाता है, इससे बालक की रक्षा होती है, इसके पीछे नृसिंह भगवान की छोटी-सी गाथा में इतने तत्त्व छिपे हुए हैं कि यदि कोई व्यक्ति इन्हें ध्यान से देखे, तो पहली बात तो उसे यह दिखाई देगी कि बालक की दृष्टिदोष से रक्षा के प्रसंग में नृसिंह की याद कहाँ से जोड़ी गयी ! बड़ी विलक्षण बात है। प्रह्लाद छोटे-से बालक थे और बड़े गम्भीर संकट में फँस गये। यहाँ तो मात्र दृष्टि का संकट है, पर प्रह्लाद का संकट तो प्राण का था। ऐसा संकट प्राय: संसार के किसी बालक पर नहीं आता। संसार में तो सभी माता-पिता अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं, पर प्रह्लाद की सबसे विकट समस्या यही थी कि उसके पिता ही उसे मार डालने पर तुला हुआ था। अब कोई और मारे, तब तो पिता उसकी रक्षा करे, पर जिस बालक को पिता ही मार डालने की चेष्टा करे, उसकी रक्षा कौन करेगा? ऐसी परिस्थिति में हम किसको अपना रक्षक बनाएँ?

वर्णन आता है कि हनुमान जी परिचय हो जाने के बाद उन्होंने प्रभु के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि आप दोनों भाई मेरी पीठ पर बैठ जाइए। अब पीठ पर बैठाने का उद्देश्य क्या था? सुग्रीव ने हनुमान जी से कह दिया था कि आप वही से मुझे संकेत कर दीजिएगा कि ये दोनों राजकुमार कौन हैं? कहीं शत्रुभाव वाले तो नहीं हैं? हनुमान जी ने दोनों काम कर दिये। प्रभु तथा लक्ष्मण जी को तो पीठ पर बैठा ही लिया, साथ ही सुग्रीव को भी संकेत दे दिया। कैसे दे दिया? एक शब्द आता है, जो हिन्दी और संस्कृत दोनों में ही प्रचलित है। रक्षा के लिए हम जिनको नियुक्त करते हैं, उन्हें कहते हैं – पृष्ठपोषक। यह पृष्ठपोषक शब्द इसलिए बना कि यदि कोई सामने से आये, तब तो हम उसे देख लेंगे, लेकिन यदि कोई पीछे से आकर प्रहार करे, तो वह आक्रमण अचानक होगा और हम उसे झेल नहीं सकेंगे। पर यदि कोई हमारे पीछे खड़ा होकर हमारी रक्षा कर रहा हो, तो निश्चिन्तता रहती है। सामने से होनेवाले आक्रमण को हम रोक लें और पीछे से होनेवाले आक्रमण को पीछे खड़ा हुआ रक्षक रोक ले, इसीलिए उसके लिए यह पृष्ठपोषक शब्द बना, अर्थात् पीठ को बचानेवाला। हनुमान जी ने मानो सुग्रीव को सूचना दे दी। बोले – महाराज, आप जानना चाहते थे न कि ये दोनों राजकुमार कौन हैं? यही बताने के लिए मैं दोनों भाइयों को पीठ पर बिठाकर ला रहा हूँ कि ये बड़े अच्छे पृष्ठपोषक हैं।

अब यदि संसार में किसी को पृष्ठपोषक बना भी लीजिए, तो एक बड़ा संकट है कि आप जिस व्यक्ति को पृष्ठपोषक बनायेंगे, उसके भी तो पीठ है, उसे भी तो एक पृष्ठपोषक चाहिए। तो फिर पृष्ठपोषकों की ऐसी कतार बन जायेगी कि जिसका कोई अन्त नहीं होगा। पर हनुमान जी तो बड़े चतुर निकले। वे ऐसा पृष्ठपोषक ले आये, जिसकी सामने, पीछे दाएँ, बाएँ – चारों ओर दृष्टि हो। हनुमान जी के हृदय में तो भगवान पहले से ही थे –

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।। १/१७

– मैं दुष्टरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्निरूप हैं, उन पवनकुमार हनुमान जी को प्रणाम करता हूँ, जिनके हृदय रूपी भवन में धनुष-बाण धारण किये श्रीराम निवास करते हैं।

तो हनुमान जी के हृदय में तो श्रीराम हैं ही, अब उन्होंने प्रभु तथा लक्ष्मण जी को पीठ पर भी बिठा लिया। अब प्रभु आगे भी हैं और पीछे भी। पृष्ठपोषकता की ओर संकेत है।

भगवान के नृसिंह अवतार में व्यक्ति को यह बड़े महत्त्व का संकेत मिलता है कि व्यक्ति यदि संकटों से त्राण पाना

चाहता है, तो केवल कुछ सम्बन्धियों या कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही बचना चाहेगा। परन्तु ये जो हमारे प्रियजन हैं, ये हर संकट से हमारी रक्षा नहीं कर सकते। किसी ने गोस्वामी जी से पूछ दिया – महाराज, इस वृद्धावस्था में यदि आप घर में रहते, तो कोई आपकी देखरेख, सेवा-टहल करता; यहाँ कहाँ आ गये? तो इस पर गोस्वामी जी बोले – घरवाले कहाँ तक रक्षा करेंगे? यात्रा बड़ी लम्बी होनेवाली है न –

जहाँ जमजातना, घोर नदी,
भट कोटि जलच्चर दंत टेवैया।
जहँ धार भयंकर, वार न पार,
न बोहितु नाव न नीक खेवैया।।
'तुलसी' तँह मातु-पिता न सखा,
नहिं कोउ कहूँ अवलंब देवैया।
तहाँ बिनु कारन रामु कृपालु
बिसाल भुजा गहि-काढ़ि लेवैया।।(कविता. उ. ५२)

– (मृत्यु के समय) यमराज के करोड़ों दूत यातना देने के लिए आकर घेर लेंगे; जब आदि-अन्तहीन भयंकर धारवाली वैतरणी नदी है, न जहाज और न दक्ष नाविक है; न वहाँ माता-पिता या मित्र के रूप में कोई सहारा देनेवाला है वहाँ अकारण ही विशाल बाँहोंवाले कृपानिधान श्रीराम निकाल लेनेवाले हैं।

जिनकी भुजा इतनी लम्बी हो, जो जीवन और मृत्यु में प्रतिक्षण मेरे साथ हों, जो हर क्षण हमारी रक्षा कर सकें, यही विश्वास प्रह्लाद के जीवन में निश्चिन्तता भर देती है। उस आसुरी वातावरण की प्रतिकूल परिस्थिति में भी प्रह्लाद की निश्चिन्तता का क्या रहस्य है? आश्यर्य होता है कि ऐसी परिस्थिति में भी एक नन्हा-सा बालक इतना निश्चिन्त है। एक ही परिवार में संसार का सबसे बड़ा आस्तिक और सबसे बड़ा नास्तिक – दोनों पिता-पुत्र के रूप में दिखाई दे रहे हैं। संसार में आज तक हिरण्यकशिपु के समान कोई नास्तिक नहीं हुआ और प्रह्लाद के समान कोई आस्तिक भी नहीं हुआ। यह जो प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु का आपसी मतभेद है, यह आस्तिकता और नास्तिकता का मतभेद है।

हिरण्यकशिपु इतना बड़ा नास्तिक था कि उसने सारे ब्रह्माण्ड में भगवान को खोजने की चेष्टा की। बहुत-से लोग कह तो देते हैं कि भगवान कहीं नहीं हैं। परन्तु यदि उनसे पूछा जाय कि कितनी दूर जाकर आपने देखने का प्रयास किया है, तो पता चलेगा कि उन्होंने अपने ही घर या आस-पड़ोस में देखा होगा। संसार को ही नहीं देखा, तो फिर यह दावा कैसा कि भगवान कहीं नहीं है! यह 'कहीं नहीं' तो वही कह सकता है, जो सर्वत्र खोज आया हो। यह दावा करने का अधिकार तो एक तरह से हिरण्यकशिपु को था, क्योंकि उसने जाकर ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थों में भगवान को ढूँढ़ने की चेष्टा की थी और उसे भगवान नहीं मिले।

यहाँ सांकेतिक बात यह है कि वह भगवान को खोज तो रहा था, परन्तु भगवान को देखने के लिए जिस दृष्टि की जरूरत होती है, उस दृष्टि का उसमें अभाव था और उसने स्थान का चुनाव भी ठीक नहीं किया था। ये दो भूलें उससे हुई थीं, तथापि कम-से-कम उसने प्रयास तो किया था। वह बड़ा ही बुद्धिवादी और तार्किक था। कई लोग तो नास्तिक होकर भी यदि सामने कोई थोड़ा-सा भी चमत्कार सामने आ जाय, तत्काल साष्टांग प्रणाम करने लगते हैं, त्राहि त्राहि करने लगते हैं, भय के मारे तुरन्त आस्तिक बन जाते हैं।

मुझे बनारस की एक बात याद आती है। एक विद्यार्थी ने मुझसे तर्क किया कि ईश्वर नहीं है। कुछ देर बातें करने के बाद वह चला गया। संयोगवश एक माह बाद जब मैं हनुमान जी का दर्शन करने संकटमोचन-मन्दिर गया था, तो देखा कि वही विद्यार्थी हनुमान जी के सामने हाथ जोड़े खड़ा है। यह दृश्य देखकर मुझसे नहीं रहा गया। दर्शन हो जाने के बाद मैंने उससे पूछा कि क्या अब उसके विचार बदल गये हैं? क्या उसे भगवान पर आस्था हो गयी है? उसने बड़ी सरलता के साथ सत्य बात कह दी। बोला – "हमें तो अभी भी समझ में नहीं आता कि ईश्वर है या नहीं, हनुमान जी हैं या नहीं, परन्तु आजकल परीक्षा चल रही है और सारे विद्यार्थी हनुमान जी का दर्शन करने आते हैं। तो मुझे भय लगा कि यदि कहीं सचमुच हनुमान जी हुए, तो कहीं न जाने से मुझे फेल न कर दें, तो सोचा, चलो भाई, हम भी दर्शन कर आएँ।" जहाँ इस तरह की नास्तिकता हो, जो परीक्षा में फेल होने के डर से आस्तिकता में बदल जाय, ऐसे स्वयं को बुद्धिवादी समझनेवाले आस्तिकों और नास्तिकों के बारे में हम क्या कहें?

हिरण्यकशिपु ने तो प्रह्लाद के जीवन में बहुत-से चमत्कार देखे – प्रह्लाद को आग में डाल दिया गया, पर्वत के नीचे फेंक दिया गया, सर्पों से डसवाया गया और प्रह्लाद पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कितने आश्चर्य की बात है! यदि प्रह्लाद के जीवन में कोई एक भी ऐसा चमत्कार देख ले, तो उसके चरणों में गिर पड़े। परन्तु हिरण्यकशिपु इतना बुद्धिवादी था, इतना कुतार्किक था कि यदि कोई उससे कहता कि कितना बड़ा चमत्कार है कि प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हुआ, अवश्य ही उसके ऊपर भगवान की कृपा है, तो वह तत्काल कहता – "इसमें क्या चमत्कार है! यदि कोई व्यक्ति पक्षी की भाँति उड़ने लगे तो इसमें आश्चर्य है, पर यदि कोई पक्षी ही उड़ने लगे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात! पक्षी को तो स्वाभाविक रूप से ही उड़ने की शक्ति मिली हुई है। मैं भी तो अग्नि में नहीं जलता, समुद्र में नहीं डूबता और ये शक्तियाँ मेरा पुत्र होने के नाते उसमें भी आ गयी हैं। इसमें ईश्वर को बीच में घसीटने की क्या जरूरत है? मुझमें ये शक्तियाँ हैं और मेरा पुत्र होने के नाते इसमें भी हैं।"

हिरण्यकशिपु में भी बहुत-सी चामत्कारिक क्षमताएँ हैं और यही जीवन का भी सत्य है। जो लोग ईश्वर को नहीं मानते, उनके पास भी चमत्कार की अद्‌भुत वस्तुएँ विद्यमान हैं। भौतिक विज्ञान में भी हैं और मानसिक दृष्टि से भी हैं। लेकिन अन्तिम होड़ में आस्तिक की विजय और नास्तिक की पराजय होती है। हिरण्यकशिपु जब अन्त में कहता है कि अब निर्णय हो जाय और प्रह्लाद को खम्भे से बाँधकर पूछता है – बोल, तेरा भगवान कहाँ है? उस समय प्रह्लाद जब भगवान की सर्व-व्यापकता पर दृष्टि डालते हैं, तो उनके सामने निर्गुण और सगुण का तत्त्व, सार्वकालिक तथा सर्वव्यापक तत्त्व आता है। इन नृसिंह भगवान के अवतार का क्या तत्त्व है? यह निर्गुण-सगुण, सर्वकालमय, सर्वव्यापी तत्त्व यदि आप एक ही अवतार में देखना चाहें, तो वह नृसिंहावतार में आपको दिखाई देगा। निराकार और साकार का तत्त्व भी एक स्थान पर दिखाई दे गया। निराकार के रूप में हिरण्यकशिपु को नहीं दिखाई दे रहा है, परन्तु प्रह्लाद देख रहे हैं और उस निराकार को साकार बनाने की क्षमता भक्त प्रह्लाद में है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रह्लाद स्वयं तो भगवान को देखते ही हैं, परन्तु साथ ही उन्होंने हिरण्यकशिपु को भी उनका साक्षात्कार करा दिया। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह हुआ कि निराकार और साकार का अर्थ है भीतर और बाहर। हम मूर्तिपूजा क्यों करते हैं? हमारे शास्त्रों में शरीर के भीतर ध्यान करने का विस्तृत वर्णन है। तो फिर हम सर्वदा भीतर ही ध्यान क्यों नहीं करते, बाहर मूर्ति बनाकर पूजा क्यों करते हैं? गोस्वामी जी अपना व्यंग्य-भरा उत्तर दे देते हैं। वे कहते हैं – हमने तो भाई, प्रह्लाद जी से ही शिक्षा ली है। – क्या? बोले – "भगवान तो प्रह्लाद के हृदय में भी विद्यमान थे और हिरण्यकशिपु की तलवार में भी, पर जब वे प्रकट हुए तो हृदय से नहीं, वे तो पत्थर के खम्भे से ही प्रकट हुए, तो हमें लगा कि उन्हें पत्थर से भी प्रकट किया जा सकता है। प्रह्लाद ने पत्थर से भगवान को प्रकट करने की पद्धति बतला दी है – **प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिय ते**। इस प्रकार साकार, निराकार, सर्वव्यापकता व सर्वकालिकता का तत्त्व भगवान नृसिंहावतार में दिखाई देता है।

हिरण्यकशिपु को ऐसी क्षमता प्राप्त थी कि उसकी मृत्यु न दिन में होगी न रात में, न बाहर होगी न भीतर और न ऊपर होगी, न नीचे। उसमें ये सारी क्षमताएँ होते हुए भी उसके समक्ष आयी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता। यहाँ भी वही सांकेतिक भाषा है – भगवान संहारक हैं या रक्षक? नृसिंह के रूप में अवतार लिया है। अब सिंह से बढ़कर भयावना और कौन होगा? सिंह का तो नाम ही सुनकर व्यक्ति काँप उठता है। भगवान ने सिंह के रूप में अवतार लिया और सचमुच ही वह रूप इतना भयावह था कि हिरण्यकशिपु का वध हो जाने के बाद भी डर के मारे कोई उनके पास जाने का साहस नहीं कर पा रहा था। भयभीत देवताओं ने लक्ष्मी जी से कहा – देवी, इनका तो क्रोध शान्त ही नहीं हो रहा है; आप ही जाकर इन्हें शान्त कीजिए। लक्ष्मी जी ने देखा और वे भी दूर से ही प्रणाम करके लौट आयीं। बोलीं – "ऐसा रूप तो मैंने भी कभी नहीं देखा। यह तो अभूतपूर्व मूर्ति है। नारायण तो पीताम्बर, तथा कौस्तुभ मणि धारण करते हैं।" देवताओं ने शंकर जी से कहा। वे बोले – तुम लोग क्या पागल हो गये हो? उन्हें और कौन शान्त कर सकता है? जिस प्रह्लाद के लिए उन्होंने यह रूप धारण किया, उन्हें छोड़ दूसरा कोई भी उन्हें शान्त नहीं कर सकता। इसका क्या अभिप्राय है?

सिंह हिंसक है या दयालु? सबको तो यही लगता है कि सिंह हिंसक है, लेकिन आप विचार करके देखिए कि जो सिंहनी के बच्चे हैं, उन्हें क्या लगता है? क्या सिंहनी अपने बच्चों को भी हिंसक तथा भयावह लगती है? अपने शावकों के लिए तो वह परम वात्सल्यमयी, ममतामयी और कल्याणी माता है। वह उन्हें दूध पिलाती है, जिह्वा से चाटकर स्वच्छ करती है और दुलार करती है।

प्रह्लाद ज्योंही भगवान नृसिंह के पास गये, उनका वात्सल्य उमड़ पड़ा। उन्होंने बड़े प्यार से प्रह्लाद को गोद में उठा लिया और उन्हें अपनी जीभ से चाटने लगे, वैसे ही जैसे एक सिंहनी अपने बच्चे को दुलारती है। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान में अनुग्रह भी है और संहार भी। जो हिरण्यकशिपु के समान दुष्टबुद्धि वाले व्यक्ति हैं, उनको भगवान में भीषणता और संहार दिखाई देती है, परन्तु जो प्रह्लाद के समान भक्त हैं, जिनके हृदय में भगवान के वात्सल्य की अनुभूति है, वे उनके वात्सल्य भाव को प्रकट करने में सफल होते हैं।

अस्तु। नृसिंह भगवान के अवतार को और उनके मंत्र को संकट से रक्षा पाने के लिए हमारे यहाँ मंत्रशास्त्र में बड़ा महत्त्व दिया गया है। इसका मूल तात्पर्य यह है कि वस्तुत: नृसिंह अवतार के द्वारा रक्षा तथा सर्वव्यापकता का जितना तत्त्व प्रकट किया गया है, वह अपने आपमें अद्‌भुत है।

उस नृसिंह-मंत्र से श्रीराम की नजर दूर हो गयी। गुरु वशिष्ठ ने श्रीराम के सिर पर हाथ रख दिया, बस संकट दूर हो गया। जब साधक पर कोई दुष्ट दृष्टि पड़ जाती है, किसी दुष्ट विचार का प्रभाव पड़ता है, जब वह किसी दुष्ट भावना की ओर बढ़ता है, तब गुरु की कृपा उसे बचा लेती है। सद्‌गुरु कौन हैं? जो हम पर लगी हुई नजर को झाड़-फूँककर दूर कर दें। बच्चों को लगनेवाली नजर से उतनी समस्या नहीं होती, पर साधक के जीवन में अपने-पराये तथा स्वयं अपनी दृष्टि लगने का जो भय है, उससे सद्‌गुरु द्वारा ही रक्षा होती है।

यह प्रसंग यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इसके बाद आगे चलकर विश्वामित्र का वर्णन आता है। भगवान राम के चरित्र

में विश्वामित्र की गुरुरूप में भूमिका आती है। उसके बाद भगवान की यात्रा होती है। भरद्वाज से मिलन आदि और हर प्रसंग में सद्गुरु के लक्षण बताये गये हैं। सद्गुरु वह है, जो दृष्टिभय से बालक की रक्षा करे। बालक कहने का अभिप्राय है कि साधना के प्रारम्भ में यह भय बहुत अधिक रहता है। गुरु अपनी कृपा के द्वारा उस भय से मुक्त कर देते हैं। परन्तु आगे चलकर ज्यों ज्यों क्रम बढ़ता जायेगा, त्यों त्यों गुरु की जरूरत बढ़ती जायेगी। ताड़का का विनाश करने के लिए गुरु की आवश्यकता है। वन में मार्ग दिखाने के लिए गुरु की आवश्यकता है। भरद्वाज जी से उन्होंने मार्ग पूछा। वाल्मीकि जी से पूछा – कहाँ रहूँ? उन्होंने कहा – चित्रकूट में निवास कीजिए। यह सांकेतिक भाषा है। महान् सद्गुरु कौन है? जो चित्रकूट में पहुँचा दे, चित्रकूट जाने की सम्मति दे। अब चाहे तो उसे योग की दृष्टि से 'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' कह लीजिए – भगवान राम चित्त की भूमि में जाकर निवास करते हैं, चित्त में डूब जाते हैं। उन्होंने एक साधक की भूमिका सम्पन्न की। आगे चलकर अन्त में वे महर्षि अगस्त्य से रावण तथा कुम्भकर्ण के विनाश के लिए मंत्र माँगते हैं।

मार्गदर्शन के लिए भरद्वाज, चित्त में प्रवेश पाने के लिए वाल्मीकि, मोह-अभिमान के विनाश के लिए अगस्त्य, धनुर्भंग तथा ताड़का-वध के लिए विश्वामित्र और बाल्यावस्था में अपनी रक्षा के लिए गुरु वशिष्ठ – इन महापुरुषों के द्वारा भगवान श्री राघवेन्द्र ने अपने व्यक्तिगत जीवन में जो भिन्न भिन्न रूप प्रस्तुत किये, गोस्वामी जी कहते हैं कि हम चाहें तो इन प्रसंगों को ही अपना गुरु बना लें, भगवान श्रीराम के चरित्र के माध्यम से जीवन की समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया गया है, हम उनसे प्रेरणा ले सकते हैं। ग्रन्थ को भी हम गुरु बना सकते हैं। पर समस्या यही है कि कहीं हम अपनी बुद्धि से ग्रन्थ का मनमाना अर्थ न लगाने लगें। ग्रन्थ चैतन्य होकर जब स्वयं अपना अर्थ बता दे, तो उससे बढ़कर सद्गुरु का रूप और क्या हो सकता है?

गुरु चाहे जिस रूप में हों, व्यक्ति के रूप में, ग्रन्थ के रूप में; गुरु की भूमिका वैद्य के रूप में हो या कर्णधार के रूप में या मार्गदर्शक के रूप में, या योग के चित्तवृत्तिनिरोध के रूप में, परन्तु गुरु के बिना साधक का जीवन परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रसंग में यही कहा गया कि यदि हम मन के रोगों को दूर करना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें सद्गुरु का आश्रय लेना चाहिए। उसके बाद भगवान श्रीराम की कृपा से रोग दूर हो सकते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-उपदेश

चुम्बक और लोहे के समान ही ईश्वर और जीव का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। परन्तु ईश्वर जीव को आकर्षित क्यों नहीं करता? जैसे लोहे पर बहुत अधिक कीचड़ लिपटा हो, तो वह चुम्बक के द्वारा आकृष्ट नहीं होता, वैसे ही यदि जीव मायारूपी कीचड़ में अत्यधिक लिपटा हो, तो उस पर ईश्वर के आकर्षण का असर नहीं होता। फिर जैसे कीचड़ को जल से धो डालने पर लोहा चुम्बक की ओर खिंचने लगता है, वैसे ही जब जीव अविरत प्रार्थना और पश्चाताप के आँसुओं से इस संसारबन्धन में डालनेवाली माया के पंक को धो डालता है, तब वह तेजी से ईश्वर की ओर खिंचता जाता है।

जीवात्मा और परमात्मा का योग कैसा होता है? यह वैसा ही है जैसे घड़ी का छोटा काँटा और बड़ा काँटा। दोनों घण्टे में एक बार मिलकर एक हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों परस्पर-सम्बद्ध तथा अन्योन्य-आश्रित हैं। यद्यपि साधारणतया दोनों वियुक्त प्रतीत होते हैं, तथापि अनुकूल अवस्था प्राप्त होते ही वे युक्त होकर एक हो जाते हैं।

चारित्र्य का बल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

अँगरेजी में एक कहावत है -``If wealth is lost, nothing is lost. If health is lost, something is lost. If character is lost, everything is lost."- अर्थात् ''यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता। यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है। पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।'' यह चारित्र्य व्यक्ति का प्राण है, जिसके न रहने से वह चलते-फिरते मुर्दे के ही समान है। चारित्र्य वह गुण है, जो जीवन को सुषमा प्रदान करता है, वह दीप्ति है, जो अन्धकार के क्षणों में व्यक्ति को पथ दिखाती है; वह चट्टान है, जो प्रलोभनों के झंझावात को झेल लेती है, वह निकष है, जो व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। व्यक्ति की महानता उसके चरित्र पर निर्भर करती है। कुर्सी किसी व्यक्ति को महान् नहीं बनाती। सत्ता से प्राप्त महत्ता क्षणिक होती है, वह सत्ता से अलग होते ही नष्ट हो जाती है। पर चरित्र से प्राप्त महत्ता शाश्वत होती है, वज्राघात भी उसका नाश नहीं कर सकता।

चारित्र्य तीन स्तम्भों पर खड़ा होता है – पहला कर्मठता; दूसरा निर्भीकता; व तीसरा निःस्वार्थता। चरित्र-वान व्यक्ति में आलस्य का अभाव होता है, वह उद्यमशील होता है, कोई भी कार्य उसके लिएं असम्भव नहीं होता। उसमें भय का सर्वथा अभाव होता है। वह अन्याय के सामने नहीं झुकता। उसमें इतना साहस भरा होता है कि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए वह जोखिम उठाने से नहीं कतराता। उसमें दूसरों के लिए जीने की प्रवृत्ति होती है। वह मानता है कि अपने लिए तो पशु भी जीते हैं, मानव-जीवन की सार्थकता वह इसमें देखता है कि वह दूसरों के काम आए।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मनुष्य केवल दूसरों के लिए जिये, तो अपने परिवार की देखभाल कैसे करेगा? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति पूरी तौर से दूसरों के लिए जी रहा है, उसे अपने परिवार को देखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है। हाँ, जो अभी पूरी तरह से दूसरों के लिए अपना जीवन नहीं दे सकता, वह कुछ समय दूसरों के लिए निकाले। वही उसके चरित्र में निखार पैदा करेगा। चरित्र को निखारनेवाला तत्त्व निःस्वार्थता ही है। यदि व्यक्ति कर्मठ और निर्भीक हो, पर अपने स्वार्थ में डूबा हो, तो ऐसा व्यक्ति भले ही अपने और अपने परिवार के लिए उपयोगी हो, पर वह दूसरों के लिए उपयोगी नहीं हो पाता। जब चरित्र निःस्वार्थता की कसौटी पर कसा जाता है, तब उसमें निखार उत्पन्न होता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज और देश के काम आता है।

चरित्र को रीढ़ की हड्डी कहा गया है। यदि रीढ़ की हड्डी दुर्बल हो या खराब हो, तो मनुष्य अपंग हो जाता है। उसी प्रकार चरित्र के बिना व्यक्तित्व भी अपंग या खोखला हो जाता है।

जिस देश में चरित्रवान व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश जीवन के सभी क्षेत्रों में उतना ही समृद्ध होगा। मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ आदि करना चरित्र की कसौटी नहीं है। ये चारित्र्य को प्रकट करने का साधन बन सकती हैं, यदि इन क्रियाओं के पीछे हमारा दिखाने या स्वार्थपूर्ति का मनोभाव न हो। खेद की बात तो यह है कि अधिकांशतः हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी हमारे स्वार्थ-साधन का ही अंग होती हैं और इसलिए वे हमारे चरित्र के प्राकट्य में साधक होने के बदले बाधक बन जाती हैं।

महापुरुषों से प्रेरणा

स्वामी सत्यरूपानन्द

स्वामी विवेकानन्द जी ने एक स्थान पर कहा है - प्रत्येक सन्त का एक भूतकाल था तथा प्रत्येक असाधु का एक भविष्य है। उनका यह कथन हमें निरन्तर प्रेरणा दे सकता है।

संसार के जिन भी महापुरुषों को हम जानते हैं, यदि हम उनके जीवन पर दृष्टि डालें, तो हम पायेंगे कि उन सभी ने जीवन में महान् सघर्ष करके, तपस्या करके, वह महानता उपलब्ध की, जिसके कारण कि वे लोग महान् हुए, प्रसिद्ध हुए।

उनके जीवन में एक ऐसा समय भी था, जब वे महापुरुष नहीं थे। उनमें भी दुर्बलताएँ थीं। उनके जीवन में भी कठिनाइयाँ थीं, किन्तु उन्होंने हार नहीं मानी, कठिनाइयों के आगे नहीं झुके, बल्कि उन्होंने अपनी दुर्बलताओं को जीता, कठिनाइयों को दूर किया, उन पर विजय पाई तथा अपने जीवन में सद्गुणों का विकास किया और इस प्रकार क्रमशः एक दिन महापुरुष हुए।

इन महापुरुषों के जीवन पर ध्यान देने से हमें यह भी प्रेरणा मिलती है कि हम सभी साधारण व्यक्तियों के लिए भी आशा है। निराश होने का कोई कारण नहीं है। हम आज चाहे जहाँ हों, जिस स्थिति में हों, हममें जितनी भी दुर्बलताएँ क्यों न हों, यदि हम यह निश्चय दृढ़तापूर्वक कर लें कि हम भी अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं, तो वह अवश्य ही उज्ज्वल हो उठेगा। हम सभी अपने क्षेत्र में महान् हो सकते हैं। तथा अपने जीवन में पूर्णता और तृप्ति का अनुभव कर कृतार्थ हो सकते हैं।

किन्तु इसके लिए हमें दृढ़ संकल्प होकर कठोर परिश्रम करना होगा। अध्यवसायपूर्वक अपनी दुर्बलताओं को जीतना होगा। कमर कसकर कठिनाइयों को दूर करना होगा। इसके साथ ही अपने जीवन में सद्गुणों का भी विकास करना होगा।

मन को समुन्नत तथा जीवन को महान् बनाने के लिए दूसरी अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि हमारे जीवन का एक महान् और उदात्त लक्ष्य हो तथा उस लक्ष्य की ओर हमारी दृष्टि सदैव लगी रहे।

संसार के सभी महापुरुषों के जीवन में यह तथ्य स्पष्ट दीख पड़ता है। उन सभी लोगों ने अपने जीवन के लिए एक महान् एवं उदात्त लक्ष्य स्थिर कर रखा था तथा वे सभी लोग निरपवाद रूप से सदैव अपने जीवन-लक्ष्य की ओर दृष्टि रखते थे। लक्ष्य की ओर दृष्टि रखने पर मनुष्य सावधान रहता है और ऐसी सभी बातों को त्याग देता है, जो कि लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक होती हैं अथवा सहायक नहीं होतीं। उसी प्रकार वह व्यक्ति उन सभी बातों को जीवन में उतारने की, आचरण में लाने की चेष्टा करता है, जो उसके लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होती हैं।

इस प्रकार उसका आचरण व्यवस्थित, मन सयत तथा जीवन क्रमशः उन्नत होता जाता है तथा वह एक दिन अपने लक्ष्य पर पहुँचकर कृतकृत्य हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम सभी के लिए जीवन-विकास का, जीवन को समुन्नत और महान् बनाने का अवसर उपलब्ध है। महापुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेकर हम जीवन-विकास की यह साधना आज और अभी प्रारम्भ कर सकते हैं। बस आवश्यकता है दृढ़-प्रतिज्ञ होकर कर्म में लग जाने की। एक बार कर्म में लग जाने पर धीरे धीरे रास्ता अपने आप बनाता जाता है तथा हमारा कार्य सहज हो जाता है। प्रगति निश्चित हो जाती है।

यही मार्ग है जीवन की सफलता एव सार्थकता का।

माँ के सान्निध्य में (७०)

श्रीमती सरलाबाला देवी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापो के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बाते' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशो का अनुवाद। – सं.)

संध्या होने पर माँ ने ठाकुर को प्रणाम करने के बाद, "हरिबोल, हरिबोल, गुरुदेव, गुरु-भरोसा" कहते हुए गंगा की ओर उन्मुख होकर प्रणाम किया। माँ कमरे में आसन बिछाकर बैठ गयीं और थोड़ी गंगाजल ग्रहण करके जप करने लगीं। आरती आरम्भ हुई। योगीन-माँ ठाकुर के साथ-ही-साथ माँ की भी आरती करने लगीं। कमरे भर के लोग जप कर रहे थे। क्या ही अद्‌भुत दृश्य था!

अक्षय तृतीया के दिन मेरी संगिनियों में से दो की दीक्षा हो गयी। मेरे भाग्य में उस दिन दीक्षा नहीं लिखी थी, क्योकि उस दिन मैं कलकत्ते में नही थी। इसके कुछ काल बाद एक दिन शाम को मै सुधीरा दीदी के साथ माँ के घर गयी। माँ के गाँव जाने की बात थी, पर उनका जाना हो नहीं सका था। हमारे प्रणाम करके बैठते ही माँ ने कहा, "आओ बेटी।" अन्य बातों के बाद माँ ने सुधीरा दीदी के प्रश्न के उत्तर में बताया, "छोटी बहू का सिर बड़ा गरम हो गया है। वह गाँव जाकर ही ठीक रहती है। और राधू की शादी भी है। इन्हीं सब कारणो से मुझे जल्दी जाना पड़ रहा है। उसी दिन जाना निर्धारित था, परन्तु दिन उतना अच्छा नहीं था, इस कारण जाना टल गया।" आरती के बाद माँ थोड़ा लेट गयीं। सुधीरा दीदी उनके पाँव दबाने लगीं। माँ बोली, "थोड़ा जोर से दबाओ बेटी। कल पूर्णिमा है न, इसीलिए पाँव का वात बढ़ गया है। देखो न, इस वात ने ऐसा पकड़ लिया है कि जाने का नाम ही नही लेती। कितने दिन हुए, इसका कौन हिसाब करेगा! जब दक्षिणेश्वर मे थी, तभी से है।"

पाँव दबाने से माँ को थोड़ी निद्रा आ गयी। हमारी गाड़ी आ जाने पर हम लोग ठाकुर को प्रणाम करके बाहर निकल रही थी, तभी माँ उठकर बोलीं, "तुम लोग जा रही हो? फिर आना।" योगेन-माँ द्वारा मेरे मंत्र लेने का प्रसंग उठाने पर वे बोली, "कल सुबह आना।"

अगले दिन सुबह मैने माँ के घर जाकर देखा कि माँ ठाकुर की पूजा समाप्त करके गंगास्नान के लिए जाने की तैयारी कर रही है। मुझे देखते ही वे बोलीं, "आओ बेटी, जल्दी से तुम्हें मंत्र देकर मै नहाने जाऊँगी।" मंत्र देना हो जाने के बाद माँ ने कहा, "वे फूल मेरे चरणों में दे दो।" मै सोच ही रही थी कि क्या कहकर दूँगी, तभी माँ उन फूलों को मेरे हाथ में देते हुए बोलीं, "यह कहते हुए कि 'मेरा जो कुछ है, सब तुम्हें देती हूँ' – इन्हें मेरे चरणो में डाल दो।" मेरे वैसा ही करने पर वे ठाकुर की ओर इंगित करके बोली, "ये ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। इन्हीं को पुकारो, तो तुम्हारा सब कुछ हो जायेगा।"

माँ के आदेश पर मैंने उनके चरणों में तेल मल दिया। स्नान आदि के बाद सुधीरा दीदी ने हम लोगों के जाने की बात कही। माँ बोलीं, "तुम लोग अभी जाओगी बेटी? प्रसाद पाकर शाम को चली जाना।" योगेन-माँ के ऊपर आते ही माँ ने उनसे कहा, "ये घर जाना चाहती हैं।" योगेन-माँ बोली, "अभी जायेंगी क्या? मंत्र के बाद प्रसाद खाकर जायेंगी। मैं इन लोगों के खाने की बात पण्डित से कह आयी हूँ।" माँ ने कहा, "मैं भी तो इन्हें शाम को जाने के लिए कह रही हूँ।"

योगेन-माँ घर जानेवाली हैं। उन्होंने माँ को प्रणाम किया। माँ उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने के बाद बोलीं, "काफी देर हो गयी है। यही पर खा लेने से नही हो जाता क्या? वहाँ जाकर पका कर खाने में कष्ट होगा।"

योगेन-माँ ने कहा, "नहीं माँ, वहाँ माँ हैं और उन्होंने सारी व्यवस्था कर रखी है। मैं केवल थोड़ा-सा पकाऊँगी।" माँ बोलीं, "तो और देरी मत करो बेटी, चली जाओ। बड़ी धूप हो रही है, काफी दूर जाना होगा।"

इसके बाद ललित बाबू की पत्नी आयीं और प्रणाम करके बैठ गयीं। हाल ही में उनकी पुत्री का देहान्त हुआ है, इस कारण उन्हें बड़ा शोक है। माँ उन्हें तरह तरह से समझाने लगीं। कहने लगीं, "अहा बेटी, तीनों ही चली गयीं! कम से कम एक को तो रहना था! फिर ललित को भी कैसी बीमारी है! ठाकुर की कृपा से ठीक हो जाने से अच्छा होगा। ललित बचा रहे, तो भी एक बड़ी दिलासा है।" माँ उन्हें प्रसाद देकर बोलीं, "खाओ बेटी, कितनी दुबली हो गयी हो! शरीर में कुछ भी नही बचा है।" हमारे विदा लेते समय सुधीरा दीदी ने माँ से कहा, "फिर कितने दिनों बाद आपसे मिलना होगा?" माँ बोलीं, "मैं जल्दी ही लौटूँगी। तुम राधू के विवाह में आओगी न?" सुधीरा दीदी कोई उत्तर न देकर बोलीं, "आज चलती हूँ, माँ।" माँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "मेरे लौटने पर फिर आना।"

गाँव से माँ के लौट आने पर एक दिन शाम को मैं और सुधीरा दीदी ने माँ के घर जाकर उनका दर्शन किया। सुधीरा दीदी ने कहा "माँ, आप बड़ी साँवली तथा दुर्बल हो गयी हैं।" माँ – "हमारा गाँव मैदानी इलाका है न, इसीलिए रंग साँवला हो जाता है। फिर मुझे खूब परिश्रम भी करना पड़ा।"

भगिनी निवेदिता आयीं और माँ को प्रणाम करके बैठ गयीं। माँ ने उनका कुशल-मंगल पूछा और पशम का बना हुआ एक पंखा उनके हाथ में देकर कहा, "यह मैंने तुम्हारे लिए बनाया है।" भगिनी उसे पाकर आनन्दविभोर होकर उसे अपने सिर तथा सीने से लगाकर कहने लगीं, "कितना सुन्दर है, कितना अद्‌भुत है ! फिर वे उसे हम लोगों को दिखाते हुए बोलीं, "देखो, माँ ने कितना सुन्दर बनाया है !" माँ ने कहा, "देखती हो न, एक छोटी-सी चीज पाकर उसे कितना आह्लाद हो रहा है ! अहा, क्या ही सरल विश्वास है ! मानो साक्षात् देवी हो। नरेन (स्वामीजी) के प्रति कितनी भक्ति रखती है ! वह इस देश में जन्मा है, इसीलिए यह सर्वस्व त्याग, यहाँ आकर जी-जान से उसका कार्य कर रही है। कैसी गुरुभक्ति है ! इस देश के प्रति भी उसका कैसा प्रेम है !"

भगिनी ने माँ को बताया कि वे दार्जिलिंग जायेंगी। राधू के आने पर माँ ने उससे कहा, "दीदियों को प्रणाम करो, राधू।" सुधीर दीदी बोलीं, "नहीं, नहीं, रहने दीजिए। वह भला हमें नमस्कार करेगी?" माँ ने कहा, "तुम लोग बड़ी बहन हो, तुम लोगों को नमस्कार नहीं करेगी?" एक ब्रह्मचारी आकर बता गये कि बहुत-से भक्त माँ को प्रणाम करने आये हैं। "उन्हें आने को कहो" – कहकर माँ एक चद्दर ओढ़कर बैठ गयीं। यथासमय हम माँ का आशीर्वाद लेकर घर लौटीं।

एक दिन भगिनी ने हम लोगों से कहा, "मातादेवी आज हमारे स्कूल में आयेंगी। तुम सभी खूब आनन्द मनाओ।" सुबह की जगह माँ की गाड़ी चार बजे आयी। उनके साथ राधू, गोलाप-माँ आदि भी थीं। माँ के गाड़ी से उतरते ही भगिनी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करके मन्दिर के दालान में बैठाया। इसके बाद माँ के चरणों में पुष्पांजलि देने के लिए उन्होंने हम लोगों के हाथों में फूल दिये। बालिकाओं द्वारा पुष्पांजलि देने के बाद आंगन में खड़ी होने पर भगिनी ने एक एक कर सबका परिचय दिया। माँ ने बालिकाओं से कुछ गाने को कहा। बालिकाओं ने गीत गाये तथा एक कविता की आवृत्ति की। सुनकर माँ ने कहा, "पद्य बड़ा अच्छा है।" इसके बाद उन्होंने मिष्टान्न का प्रसाद करके हम लोगों में बाँट देने को कहा। थोड़ी देर बाद भगिनी माँ को साथ लेकर सभी कमरे और बालिकाओं की हस्तकला के नमूने दिखाने लगीं। माँ देखकर आनन्दित होतीं और कह उठतीं, "अच्छा ही तो सीखा है बच्चियों ने !" इसके बाद भगिनी विश्राम के लिए माँ को अपने कमरे में ले गयीं।

जिस समय भगिनी निवेदिता का देहान्त हुआ, उस समय सुधीरा दीदी खूब बीमार पड़ी थीं। माँ उनके लिए बड़ी चिन्ता करतीं ! कहतीं, "ओ ठाकुर, सुधीरा जायेगी क्या? उसके तो कितने ही कार्य बाकी हैं।" वे ऐसा कहतीं और रोतीं।

माँ ने श्यामपुकुर वाली बुआ से कहा था, "क्या तुम एक बार सुधीरा का समाचार ला सकती हो? अहा, वह बड़ी बीमार है।" उनके स्वीकार कर लेने पर माँ ने उनके हाथों में ठाकुर का चरणामृत, अनार आदि देकर कहा, "यह सब उसे देना और कैसी है – यह समाचार लाकर मुझे देना। मैं उसके लिए ठाकुर को तुलसी चढ़ा रही हूँ।"

सुधीरा दीदी के स्वस्थ हो जाने पर एक दिन संध्या के समय वे, मैं तथा भगिनी क्रिष्टिन माँ के घर गयी थीं। आरती के बाद हम लोगों के प्रणाम करके बैठते ही माँ ने सुधीरा दीदी से कहा, "ठीक हो गयी हो, बेटी?" सुधीरा दीदी ने बताया कि वे काफी कुछ ठीक हो गयी हैं, तथापि सावधानी बरत रही हैं। माँ बोलीं, "तुम्हारे लिए बड़ी चिन्ता हुई थी। खैर, ठाकुर की कृपा से ठीक हो गयी हो, बेटी ! यह निवेदिता चली गयी, फिर तुम भी बीमार पड़ गयी – सुनकर मैं सोचती, सुधीरा के चले जाने पर स्कूल कौन चलायेगा? (भगिनी क्रिष्टिन की ओर उन्मुख होकर) अहा, दोनों एक साथ थी, अब अकेले रहने में कितना कष्ट होगा ! हम लोगों के प्राण ही तो उसके लिए कितने दुखी हैं, तुम्हारा तो और भी अधिक होगा, बेटी ! क्या ही आदमी थी वह ! उसके लिए आज कितने लोग रो रहे हैं !" इतना कहकर माँ रोने लगीं। इसके बाद वे भगिनी क्रिष्टिन से स्कूल के बारे में बहुत-सी बातें पूछने लगीं।

सुधीरा दीदी जलवायु-परिवर्तन के लिए मुझे साथ लेकर वाराणसी जायेंगी, यह बताये जाने पर माँ ने उस विषय में बहुत-सी बातें पूछने के बाद कहा, "जल्दी से चली जाना, स्वास्थ्य को ठीक करना होगा न !"

इसके काफी दिनों बाद एक दिन मैं माँ के चरण-दर्शन को जा रही थी। मेरे साथ डॉक्टर की पत्नी थी। इस बार सुधीरा दीदी के साथ न होने से मुझे विशेष भय लग रहा था कि माँ यदि मुझे पहचान न सकें। हम लोगों ने मन्दिर में जाकर देखा कि माँ पूजा करके उठ रही हैं। मुझे देखकर वे बोलीं, "अच्छा बेटी, तुम आयी हो? इतने दिनों से आयी क्यों नहीं? तुम्हारे लिए मैं कितनी चिन्ता कर रही थी। कहाँ थी?" मेरे प्रणाम करते ही उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद किया और सुधीरा दीदी का समाचार पूछा। मैंने कहा, "वे कलकत्ते आयी हैं, मैं भी उन्हीं के साथ आयी हूँ।" माँ ने मुझे पहचान लिया है, यह सोचकर मेरे प्राण आनन्दविभोर हो उठे।

(शेष अगले पृष्ट पर)

जीना सीखो (१८)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

विश्वास नरक को स्वर्ग बना सकता है

दो-तीन वर्ष पूर्व संवाद-पत्रों में एक विचित्र घटना छपी। दिल्ली के पास के एक गाँव में काम करनेवाला एक खेतिहर मजदूर दमे से पीड़ित था। कष्ट बढ़ जाने पर उसने नगर में जाकर एक सुप्रसिद्ध अस्पताल के डॉक्टर से भेंट की और उनसे जाँच-पड़ताल तथा चिकित्सा के लिए अनुरोध किया। चिकित्सक ने अपने पैड पर दवा लिख दी, जिस पर उनका नाम तथा कई उपाधियाँ छपी थी। उन्होंने रोगी को बताया कि वह दवा के १४ भाग करके प्रतिदिन सुबह-शाम उसका सेवन करे और एक सप्ताह बाद आकर उनसे फिर मिले। रोगी ने शब्दश: वैसा ही किया। एक सप्ताह बाद वह चिकित्सक के पास जाकर उन्हें नमस्कार करने के बाद बोला, "डॉक्टर बाबू, आपकी दवा ने अद्भुत कार्य किया। अब अपने दमे की पीड़ा से पूर्णत: मुक्त हो गया हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि अपनी जीवन-रक्षा के लिए मैं आपको कैसे धन्यवाद दूँ?" चिकित्सक ने पुन: देखने के लिए उससे उपचार-पत्र माँगा। परन्तु रोगी का उत्तर सुनकर वह विस्मय से उछल पड़ा। रोगी ने उनके दवा के पुर्जे के ही १४ समान भाग करके प्रतिदिन सुबह-शाम उनका भक्षण किया था। चिकित्सक ने अपने को सँभाला और मुस्कुराते हुए कहा, 'बहुत अच्छा' और रोगी को उसकी स्वस्थता के विश्वास के साथ ही घर लौटा दिया। उन्होंने रोगी के विश्वास को बदलने का प्रयास नहीं किया।

यह किसी के दिमाग की कल्पना नहीं, बल्कि एक सच्ची घटना है। ऐसा घटनाएँ सचमुच ही दुर्लभ हैं, परन्तु ऐसी घटनाओं के पीछे कौन-सी शक्ति या नियम कार्य करता है? क्या यह पूरी तौर से विश्वास मात्र नहीं है? चिकित्सक ने दवा का पर्चा दिया। रोगी ने विश्वास किया, "इससे निश्चय ही मेरी बीमारी ठीक हो जायेगी।" यह विश्वास ही उसकी स्वस्थता का मूल था। इस दृढ़ विश्वास ने ही उसके शरीर में रोग से लड़ने के लिए आवश्यक प्रतिरोध-क्षमता उत्पन्न की।

अब विश्वास का दूसरा पक्ष देखो। कुछ वर्ष पूर्व मनोवैज्ञानिक एक व्यक्ति को प्रयोगशाला में लाए। उसे हत्या के आरोप में मृत्युदण्ड सुनाई गयी थी। वैज्ञानिकों ने न्यायाधीश से उस पर एक प्रयोग करने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। वे उसके जीवन को बचाना नहीं चाहते थे, परन्तु यह देखना चाहते थे कि विश्वास का मानव-मन पर क्या प्रभाव होता है। उन्होंने उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर मेज पर लिटा दिया। उसके पाँव भी बाँध दिये गये थे, ताकि वह भाग न सके। उन लोगों ने उसके गले के पास एक नली लगा दी और उससे होकर बहनेवाले रक्त को एकत्र करने के लिए उसके दूसरे छोर पर एक बरतन रख दिया। इसके बाद एक वरिष्ठ चिकित्सक ने उस व्यक्ति से कहा, "हम यह देखना चाहते हैं कि कितना रक्त निकलने पर आदमी मर जाता है। कहते हैं कि किसी व्यक्ति के शरीर से साढ़े तीन लीटर खून निकाल लेने से वह मर

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

उस दिन बलराम बाबू के घर निमंत्रण था। सभी जानेवाले थे। राधू की तबीयत ठीक नहीं थी। इसीलिए माँ ने कहा, "यह तो जायेगी नहीं, राधू और यह रह जायेंगी।"

माँ को ले जाने के लिए गाड़ी आयी थी। जाते समय माँ हमसे कह गयीं, "तुम दोनों मिलकर खेलना। मैं जल्दी लौट आऊँगी।" राधू से उन्होंने फिर कहा, "दीदी के साथ खेलना बेटी, ठीक है न? मैं जाती हूँ।"

चार बजे के बाद माँ लौट आयीं। हम लोगों का भी उसी गाड़ी से लौटना निश्चित था। माँ ने जल्दी से मुझे कुछ प्रसाद देकर कहा, "अहा ! बेटी, हम लोग आयीं और तुम चल दी? क्या करोगी? उन लोगों के साथ आयी हो, उन्हीं के साथ लौटना भी तो पड़ेगा? बिटिया को आये बड़ी देर हो गयी।"

राधू – क्यों, दीदी रहे न।

माँ – वह कैसे रह सकेगी, बेटी?

राधू – नहीं, रहे। वे लोग चली जायँ।

माँ – (राधू) पगली है और क्या ! इसके रह जाने से उन लोगों का काम कैसे चलेगा? नहीं बेटी, तुम जल्दी से निकल जाओ, वे लोग नीचे पुकार रहे हैं।

मैं माँ को प्रणाम करके विदा ले रही थी। माँ आशीर्वाद देते हुए बोलीं, "कितने दिन तुम्हें इसी प्रकार रहना होगा, बेटी, यह ठाकुर ही जानते हैं। फिर आना बेटी" – कहते हुए वे हम लोगों के साथ सीढ़ी तक आयीं। उस दिन मुझे माँ की जिस करुणा का अनुभव हुआ था, उसे कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता। "यह करना, वह करना" – कहते हुए उन्होंने मुझे अनेक आदेश दिये थे। ❖(क्रमश:)❖

जाता है। हम तुम्हें बिना कोई पीड़ा दिये तुम्हारा रक्त निकालते हुए मर जाने देंगे। फाँसी पर झूलने की अपेक्षा मरने का यह काफी कम कष्टकर और अधिक आरामदायक उपाय है।'' वह व्यक्ति चुपचाप और बिना किसी प्रतिक्रिया के मेज पर लेटा रहा। उन लोगों ने उसके गर्दन के पास की एक नस काट दी और बताया कि खून पहले बूँद बूँद निकलने के बाद अब प्रवाह में बहने लगा है। उस आदमी का चेहरा पीला पड़ चुका था। नीचे बरतन में खून के गिरने की आवाज बढ़ गयी। वैज्ञानिकों ने सूचित किया कि वे बरतन में तीन लीटर खून एकत्र कर चुके हैं। उस व्यक्ति की साँस उखड़ने लगी। और जब उन्होंने कहा, ''साढ़े तीन लीटर हो गया'', तो उसकी साँस ही रुक गयी। सच तो यह था कि नली से होकर बरतन में केवल साढ़े तीन लीटर पानी ही बहाया गया था। उसकी नस को इतने हल्के से काटा गया था कि उससे कोई रक्त ही नहीं बहा था। परन्तु यह विश्वास की मृत्यु तक उसका रक्त बह रहा है, सचमुच के रक्तस्राव के परिणाम का कारण हुआ।

क्या यह एक संयोग मात्र था?

उपरोक्त प्रकार की घटनाएँ कभी कभी संयोगवश भी हो सकती हैं। तुम पूछ सकते हो, ''तो इसमें क्या है? क्या आप इससे कोई सामान्य नियम बना सकते हैं?'' परन्तु विश्वास के द्वारा नीरोग होना, भय तथा आशंका के कारण आपदाएँ आना – अज्ञात काल से ऐसा होता आया है। तुम पूछ सकते हो कि क्या हम औषधियों की उपयोगिता से इन्कार कर सकते है? हम सचमुच ही इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि दवाइयों का शरीर पर प्रभाव होता है। निम्नलिखित प्रयोगो के उदाहरणों की सहायता से तुम मनुष्यों पर विश्वास के प्रभाव का अध्ययन कर सकते हो –

२६ जून १९७९ 'हिन्दू' अखबार में छपे एक समाचार के अनुसार बॉस्टन (अमेरिका) में डॉ. बेन्सन द्वारा चालीस वर्षों तक एक प्रयोग किया गया। यह चिकित्सक के व्यक्तित्व, उसके द्वारा दिये गये निर्देशो तथा रोगियों का उसमे विश्वास के प्रभाव के प्रायोगिक अध्ययन की रीपोर्ट थी।

इस रीपोर्ट के अनुसार ८० फीसदी रोगी डॉक्टर द्वारा नयी दवा के अधिक प्रभावशाली होने के आश्वासन से ठीक हो गये, जबकि वस्तुत: दवा के जगह उन्हें कुछ और ही दिया गया था। यह रीपोर्ट आगे बताता है कि सीने की पीड़ा तथा हृदय-दुर्बलता जैसे रोग भी छद्म-औषधि से ही दूर हो गए।

रोगों की चिकित्सा में रोगियों के विश्वास का महत्त्व सभी चिकित्सकों को ज्ञात है, परन्तु वैज्ञानिको का कहना है इस विश्वास का प्रभाव आम मान्यता की अपेक्षा कहीं अधिक है।

बॉस्टन के बेथ इस्रायल अस्पताल के डॉ. हर्बर्ट बेन्सन का शोधपत्र न्यू इंग्लैंड जरनल ऑफ मेडिसिन में छपा था। वैज्ञानिकों ने अन्ज़ीना अर्थात् हृदय में रक्तप्रवाह की कमी से होनेवाली पीड़ा के लिए उपयोग में लायी जानेवाली दवाओं के प्रभाव का पुनर्परीक्षण किया।

इसका निष्कर्ष यह था कि तीन आधुनिक दवाएँ और दो तरह की शल्य-क्रियाएँ इस अवस्था में सुधार के लिए कोई खास उपयोगी नही थीं।

इस प्रयोग के लिए १११७ रोगियों को चुना गया था, जिनमें ११३ का डॉक्टरों द्वारा अध्ययन किया गया। इनमे से ८२ प्रतिशत रोगी छद्म-औषधि के सेवन से ठीक हो गए।

वैज्ञानिको का निष्कर्ष था कि रोगियों को दवा से कही ज्यादा चिकित्सकों के प्रोत्साहन, आश्वासन, प्रेम, सहानुभूति तथा सच्चाई ने राहत दी थी। डॉ. बेन्सन की खोज पर आश्चर्य हो सकता है कि ८२ प्रतिशत रोगी विश्वास से ही ठीक हो गये। लोग इस आँकड़े को थोड़ा अतिशयोक्ति भी मान सकते हैं। परन्तु पिछले ४ दशकों के दौरान विभिन्न स्थानों में किये गये शोधों के द्वारा रोगों की चिकित्सा में विश्वास के प्रभाव के विषय में यही निष्कर्ष निकलता है।

१६वी सदी के प्रसिद्ध जर्मन चिकित्सक परसुलुस ने दावा किया था कि विश्वास से हर रोग की चिकित्सा हो सकती है। इसका अर्थ यह नही कि सबमें यह विश्वास आ सकता है और यह भी नही कि प्रशिक्षण व अभ्यास से विश्वास पैदा नही हो सकता। इसका अर्थ यह भी नहीं कि दवाएँ निरर्थक हैं। हम तो केवल पूर्ण विश्वास की अद्भुत शक्ति पर बल दे रहे है।

सम्मोहन-अवस्था में मन के चमत्कार

यदि अचेतन मन कुछ विचारो को स्वीकार कर ले, तो उनके वास्तविक न होने पर भी वह उनमें निहित सुझावों के अनुसार चलेगा। मन ऐसा व्यवहार करेगा, मानो वे विचार सत्य रहे हों। सम्मोहित किये गये लोगों में हमें ऐसा ही दीख पड़ता है। डॉ. सैलिगमैन ने एक शोधपत्र में अपने इन प्रयोगो से प्राप्त अनुभव का विवरण दिया है। उन्होंने एक सम्मोहित व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा कि उसे एक तपे हुए लाल लोहे की छड़ का स्पर्श कराया जायगा और उसके शरीर पर फफोला निकल आयेगा। इसके बाद डॉ. हेडफील्ड ने उसे गर्म छड़ से नही, बल्कि अपनी अँगुली से स्पर्श किया, परन्तु वह व्यक्ति इस प्रकार काँपने लगा मानो उसकी त्वचा जल रही हो। सम्मोहन अवस्था में ही उसे पट्टी बाँध दी गयी। छह घन्टे बाद जब उसकी पट्टी खोली गई, तो जिस स्थान पर डॉ. हेडफील्ड ने अँगुली लगायी थी, वहाँ एक फफोला निकला हुआ था। अगले दिन तक वह फफोला बढ़कर जलने से बने हुए घाव जैसा हो गया। जब विशेषज्ञों की उपस्थिति मे इस प्रयोग को दुहराया गया, तो भी यही परिणाम निकला।

अब उन्होंने सम्मोहित व्यक्ति को बताया कि वे उसे अँगुली

से स्पर्श करेगे और उसे कोई पीड़ा नही होगी। इसके बाद उन्होने उसका गर्म लोहे से स्पर्श किया। दागे जाते समय या बाद मे भी उस व्यक्ति में किसी भी कष्ट के लक्षण नहीं दिखे। उसकी त्वचा पर कोई फफोला न था, केवल उस स्थान पर जहाँ गर्म लोहे का स्पर्श कराया गया था, एक छोटा-सा लाल रंग का गोल चिह्न था। परन्तु उसमे भी कोई पीड़ा न थी और वह शीघ्र ही चला भी गया।

एक सुप्रसिद्ध भारोत्तोलक (वेट-लिफ्टर) को सम्मोहित करके उससे कहा गया, "तुम चाहे जितना भी प्रयास करो, पर मेज पर रखी उस पेंसिल को नहीं उठा सकोगे।" जो व्यक्ति सहज ही २०० किलो वजन उठा लेता था, वह प्रयास करके भी एक पेंसिल तक न उठा सका। उसके अचेतन मन ने उस विशेषज्ञ के सुझाव को पूरी तौर से स्वीकार कर लिया और उसी के अनुसार उससे आचरण भी करवाया था।

तो क्या वह सम्मोहन की अवस्था में निर्बल हो गया था? नहीं, उसका बल सामान्य ही रहा; परन्तु सम्मोहन-अवस्था में विपरीत सलाह के कारण अनजाने में ही उसने अपने स्वभाव के विपरीत कार्य किया। एक ओर तो उसने पेंसिल उठाने के प्रयास में अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयास किया और दूसरी ओर 'तुम नहीं उठा सकते' सलाह का प्रभाव हुआ। नकारात्मक सलाह ने उसकी वास्तविक शक्ति को अभिव्यक्त होने से रोक दिया और उसके पराजय का कारण हुआ।

एक व्यक्ति मंच-भय से पीड़ित था और वह श्रोताओं के सम्मुख एक शब्द भी बोल नही पाता था। उसे सम्मोहित करके बताया गया कि 'तुम बहुत अच्छा बोल सकते हो'। वह अपनी सम्मोहित अवस्था में ही उठा और निर्भय होकर धाराप्रवाह बोलते हुए उसने स्वयं को तथा अन्य सभी को विस्मित कर दिया। गणित की एक समस्या, जिसे हल करने में सामान्यत: एक घण्टे का कठिन परिश्रम लगता है, एक व्यक्ति को सम्मोहन में दिये गये आदेश से बीस मिनट में ही हल कर ली गयी। व्याख्यान की क्षमता तथा गणित की समस्या हल करने की शक्ति उन व्यक्तियो में पहले से ही छिपी हुई थी। वे सम्मोहनकर्ता की चमत्कारिक शक्ति का फल नहीं थीं। बल्कि वे पहले स्वयं ही अपनी क्षमताओ के विषय में नहीं जानते थे। नकारात्मक सुझावो ने उनकी क्षमताओं को दबाकर रख दिया था। विशेषज्ञ ने उन्हें दमित अवस्था से मुक्त कर दिया। केवल कुछ लोग ही बचपन से प्राप्त दमन के तथा नकारात्मक सुझावो पर विजय प्राप्त करके यथेष्ट मात्रा में आत्मविश्वास विकसित कर पाते हैं। यह आत्मविश्वास ही दमित अवस्था में पड़ी प्रचण्ड शक्ति को उन्मुक्त करने की कुंजी है।

मन जिसे दृढ़तापूर्वक सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है, उसका मनुष्य के आचरण पर प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त उदाहरण इस बात को भलीभाँति प्रमाणित करते हैं। यदि तुम सम्मोहन की अवस्था में हो और नकारात्मक बातें निरन्तर तुम्हारे मन पर प्रहार करती रहें, तो उनसे जो क्षति हो सकती है, उसकी हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं। साधारणत: हम प्रकृति द्वारा रक्षित हैं; जब हमारा चेतन मन सक्रिय रहता है, तब यह नये सलाहों तथा विचारों को आसानी से स्वीकार नही करता। यह सोचता है, परखता है, सलाह को पिछले अनुभवों से मिलाकर देखता है और तब धीरे धीरे स्वीकार करता है। यदि ऐसा न होता, तो प्रत्येक भय या शंका हमें अभिभूत कर देती। 'मुझे बुखार है', 'मैं दुर्बल हो रहा हूँ' – चेतन मन के ऐसे सुझाव सहज ही अचेतन मन द्वारा स्वीकृत होकर कार्यरूप में परिणत हो जाते। यदि हमारा चेतन मन किसी एक ही विषय पर निरन्तर सोच रहा है, तो अचेतन मन उसे कार्यरूप में परिणत करने का अवसर खोजता रहता है।

यदि बच्चों के चेतन मन का ठीक ठीक विकास होने के पूर्व ही उन्हें नकारात्मक सुझाव दिये जायँ, तो वे सम्मोहित व्यक्तियों के समान आचरण कर सकते हैं। बाल-शिक्षकों को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। उन्हें इस बात का ध्यान रखना होगा कि बच्चों के भविष्य की नींव में इस्तेमाल की जानेवाली ईंटों में दरारें न पड़ें। यही वह मूलभूत सिद्धान्त है, जो न केवल व्यक्ति अपितु पूरे राष्ट्र को निर्बल या सबल बनाता है।

स्वामी विवेकानन्द कहते है – "जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। वास्तव में अगर दिन-रात वह अपने को दीन-हीन तथा 'कुछ नहीं' समझता है, वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है। यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है', तो तुममें शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि 'मैं कुछ नही हूँ', दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। तुम्हें यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उसी सर्व शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा।"

"पुराणों में बताये गये तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर और विदेशियों ने बीच बीच में जिन देवताओं को तुम्हारे बीच घुसा दिया है, उन सब पर भी यदि तुम्हारी श्रद्धा हो, और अपने आप पर श्रद्धा न हो, तो तुम कदापि मुक्ति के अधिकारी नही हो सकते। अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो! इसी आत्मश्रद्धा के बल से अपने पैरों आप खड़े होओ और शक्तिशाली बनो। इस समय हमें इसी की आवश्यकता है।"

राष्ट्र में रचनात्मक भाव !

हाल ही में जापान-यात्रा से लौटे कुछ वरिष्ठ लोगों ने

बताया कि वहाँ के बच्चे ज्योंही प्राथमिक पाठशाला में जाने लगते हैं, उन्हें अपने देश का गौरव बताया जाता है। बच्चे भी अपने प्राचीन महापुरुषों की कथाएँ, अपनी संस्कृति की महिमा, और ऐसी कथाएँ सुनने को उत्सुक रहते हैं, जो उनके पूर्वजों की कार्यकुशलता, बल तथा योग्यता पर प्रकाश डालती हैं। ये कहानियाँ बच्चों में श्रद्धाभाव विकसित करती है, उन्हें अपने देश तथा देशवासियों के प्रति गौरव का बोध कराती हैं। उन्हें बताया जाता कि मनुष्यों की एक महान् जाति के होने के कारण ईश्वर उन्हें विशेष रूप से पसन्द करता है और सूर्य की किरणों का सर्वप्रथम जापान की भूमि पर पड़कर उसे आलोकित करना ईश्वर के जापान-प्रेम का द्योतक है। वे अपने देश को दुनिया का सर्वाधिक गौरवशाली राष्ट्र मानते हैं। उनकी जाति महान् जाति मानी जाती है। उनका देश उगते हुए सूर्य का देश है। जापानी बच्चों के मन में बचपन से ही ऐसे विचार भर दिये जाते हैं। यह उनकी आत्मधारणा का एक अंग बन जाता है तथा उन्हें रचनात्मक कार्य, कर्मप्रेम, उद्यम, सहयोग, प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्टता की प्राप्ति तथा चरम देशभक्ति के लिए प्रेरित करता है। यह एक ऐसा देश है, जिसके बच्चे शैशव से ही यह भाव आत्मसात् करते हैं। इस छोटे-से देश ने बहुमुखी प्रगति की है और अब यह विश्व के सर्वाधिक उन्नत राष्ट्रों को विकास के सभी क्षेत्रों में चुनौती देने की स्थिति में है।

विनाश के पैगम्बर !

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं कही जा सकती। यह शिक्षा केवल तथा पूर्णत: निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयंकर है। कोमलमति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और सबसे पहली बात, जो उसे सिखायी जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है, वह यह है कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात है कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे पाखण्डी हैं। और चौथी बात है कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्मग्रन्थ हैं, उनमें झूठी और कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं। इस प्रकार की निषेधात्मक बातें सीखते सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुँचता है, तब तक वह निषेधों की ढेर बन चुका होता है – उसमें न जान रहती है न रीढ़।"

हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति की महान् बौद्धिक क्षमता के काफी प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीन भारत की उपलब्धियों को देखकर सारा विश्व दाँतों-तले अँगुली दबाया करता था। इसी भाव से अनुप्राणित हो हमारे दूरदर्शी महान् देशभक्तों ने देश को विदेशियों के शोषण से मुक्त कराने हेतु अपने जीवन तक को दाँव पर लगाकर संघर्ष किया। परन्तु क्यों आज के स्कूलो तथा कॉलेजों से निकलने वाले करोड़ों नवयुवकों में राष्ट्र की गरिमा तथा महिमा के विषय में जरा भी गौरवबोध नहीं है?

प्रचार के किसी सुनियोजित प्रयास के बिना ही प्राचीन भारत के योग-वेदान्त, नृत्य-संगीत, स्थापत्य-कला, दर्शन, सन्तों के चरित्र तथा धर्मगुरुओं की शिक्षा ने केवल अपनी ही अन्तर्निहित शक्ति से ही विदेशी बुद्धिजीवियों को आकृष्ट किया है। हमारे देश के शिक्षित युवक उनकी ओर क्यों नही आकृष्ट होते? क्या हम अपने युवकों से अपनी संस्कृति के इन पक्षो के प्राथमिक ज्ञान, थोड़ी रुचि तथा गौरवबोध की अपेक्षा न करें? क्या इस अपेक्षा का कोई आधार है? ऐसा क्यों है कि हमारे आधुनिक क्रान्तिकारी तथा विचारक हमारी समस्त प्राचीन उपलब्धियों तथा देश के परम्परागत मूल्यों को केवल 'शोषण तथा अन्धविश्वास' ही कहते हैं? राष्ट्रवाद के भाव से अनुप्राणित होकर हमारे महान् नेताओं ने काफी कष्ट तथा बलिदान के बाद देश को स्वाधीन कराया। परन्तु आज हम अपने चारों ओर ऐसी गतिविधियाँ क्यों देख रहे हैं, जो राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति की जड़ों पर ही प्रहार कर रही हैं? क्यों हमारा देश भाषा-विवाद, साम्प्रदायिक विद्वेष, स्वार्थपरता, बुद्धिजीवियों की नकलची प्रवृत्तियाँ, व्यापक भ्रष्टाचार तथा नैतिक पतन, अयोग्य राजनेता, लोभी उत्पादकों, कालाबाजारियों, स्वार्थी तथा भ्रष्ट अधिकारियों, आलसी श्रमिकों, अनुशासन तथा भावनाओं से रहित छत्रों के द्वारा बरबाद किया जा रहा है? क्या हमने ऐसे ही देश के लिए संघर्ष किया था? क्या राजनैतिक घृणा के बीज बोकर राष्ट्रीय प्रगति का फल पाया जा सकता है? राजनैतिक भ्रष्टाचार के उदाहरण उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं, परन्तु अपराधियों को दण्ड नहीं मिलता। गरीबों के कष्ट बढ़ते जा रहे हैं, पर कहीं कोई आशा की किरण नहीं दिखाई देती। नेतागण बारम्बार दावा करते हैं कि वे निरन्तर गरीबों तथा पिछड़ों की भलाई के लिए कठोर परिश्रम कर रहे हैं। चारों ओर अन्धकार फैला है, परन्तु ऊँचे पदों पर बैठे तथा शासन की बागडोर सँभालने वाले लोग कहते हैं, "सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है।" क्या यह अवस्था सन्तोषजनक है? क्या ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो इस पतन को रोककर देश को बचा सके? क्या ऐसा कोई उच्च आदर्श नहीं है, जो देश के सभी राजनीतिक दलों तथा विभिन्न धर्मो के अनुयाइयों को एक सूत्र में पिरोकर, एक सामान्य लक्ष्य से अनुप्राणित करके देश की भलाई के कार्य में नियोजित कर सके? हमारे देशवासियो की आत्मधारणा कितने ही नकारात्मक भावों से परिपूर्ण है ! और इसके फलस्वरूप एक महान् राष्ट्रीय आपदा हमारी प्रतीक्षा कर रही है !

❖ (क्रमश:) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (१८)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

गधा और उसके तीन मालिक

एक जड़ी-बूटी के विक्रेता के पास एक गधा था। वह उससे अधिकाधिक काम लेता और खाने को कम ही देता था। गधे ने बृहस्पति देवता से प्रार्थना की कि उसे वर्तमान कार्य से हटाकर किसी नये मालिक के हवाले कर दिया जाय। बृहस्पति ने उसे सावधान किया कि कहीं उसे इस कारण पश्चात्ताप न करना पड़े, उसे एक ईंट-विक्रेता के हाथों बिकवाने की व्यवस्था करा दी। थोड़े दिनों बाद ही गधे को महसूस होने लगा कि ईंट के भट्ठे में उसे ज्यादा मेहनत करनी पड़ रही है और उसका बोझ भी बढ़ गया है। अत: उसने एक अन्य मालिक के लिए अनुरोध किया। बृहस्पति ने उसे यह चेतावनी देते हुए कि यह अन्तिम बार उसे नया मालिक दिया जा रहा है, उसे एक चमड़े के व्यापारी के हाथों बिकवाने की व्यवस्था करा दी। गधे को जब अपने नये मालिक के बारे में जानकारी मिली, तो उसने देखा कि वह सबसे बुरे हाथों में जा पड़ा है और वह खेद व्यक्त करते हुए बोला, "अपने वर्तमान मालिक के पास आने की अपेक्षा तो मेरे लिए यही अच्छा होता कि या तो मैं अपने पहले मालिक के द्वारा भूखों मार दिया जाता, या फिर दूसरे मालिक के द्वारा मेरी क्षमता से अधिक परिश्रम करा लिया जाता, क्योंकि यह मालिक तो मेरे मरने के बाद भी मेरे चमड़े को पकाकर अपने लिए उपयोगी बना लेगा।"

हंस और राजहंस

एक धनी व्यक्ति ने बाजार से एक हंस और एक राजहंस खरीदा। एक को उसने अपने भोजन के लिए और दूसरे को उसका गाना सुनने के लिए पाला। रात के समय जब रसोइया हंस को पकाने के लिए पकड़ने गया, तो अँधेरा होने के कारण तो उसे दोनों पक्षियों का भेद दिखाई नहीं दिया। उसने गल्ती से हंस की जगह राजहंस को ही पकड़ लिया। अपनी जान पर संकट आया देखकर राजहंस ने गाना शुरू करके अपनी आवाज के द्वारा अपना परिचय दे दिया और अपने संगीत के द्वारा अपनी प्राणरक्षा की।

मछुवारा और छोटी मछली

एक मछुवारा मछलियाँ पकड़कर ही अपना गुजारा किया करता था। एक बार दिन भर के परिश्रम के बाद उसके जाल में केवल एक ही छोटी-सी मछली फँसी। मछली ने छटपटाते हुए अपने जीवन की भिक्षा माँगते हुए कहा, "महाशय, मैं आपके लिए किसी काम की नहीं हूँ। मैं तो अभी बड़ी भी नहीं हुई हूँ, अत: मेरी कीमत ही भला कितनी होगी? कृपा करके मुझे फिर से समुद्र में छोड़ दीजिए। जल्दी ही मैं बड़ी होकर बड़े लोगों के भोजन के उपयुक्त हो जाऊँगी और तब आप मुझे पकड़कर अच्छा लाभ कमा सकेंगे।" मछुआरे ने उत्तर दिया, "अधिक परन्तु अनिश्चित लाभ की आशा में यदि मैं वर्तमान निश्चित लाभ को छोड़ दूँ, तो सचमुच ही मेरे जैसा मूर्ख दूसरा नहीं मिलेगा।"

बुध देवता और मूर्तिकार

एक बार बुध देवता के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि पृथ्वी के लोग उन्हें कितने सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। अपनी यह जिज्ञासा मिटाने के लिए उन्होंने एक मनुष्य का वेश बनाया और उसी वेश में एक मूर्तिकार के घर जा पहुँचे। वहाँ रखी हुई विभिन्न मूर्तियों का निरीक्षण करने के बाद उन्होंने बृहस्पति तथा उनकी पत्नी जूनो की मूर्तियों की कीमत पूछी। कीमत सुन लेने के बाद उन्होंने अपनी मूर्ति की ओर इशारा करते हुए मूर्तिकार से कहा, "इसकी कीमत तो अवश्य ही बहुत ज्यादा होगी, क्योंकि यह तो देवेन्द्र के सन्देशवाहक की मूर्ति है, जो तुम्हारे समस्त ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी हैं।" मूर्तिकार ने कहा, "ठीक है, यदि तुम उन मूर्तियों को खरीदोगे, तो यह मूर्ति मैं तुम्हें मुफ्त में ही दे दूँगा।"

अपने बारे में बहुत ऊँची धारणा बना लेने पर निराश होना पड़ सकता है।

बहेलिया, तीतर और मुर्गा

एक बहेलिये को दिन भर कोई शिकार नहीं मिला। वह अपने दाल-रोटी की थाली लेकर भोजन के लिए बैठने ही वाला था कि अप्रत्याशित रूप से उसका एक मित्र आ पहुँचा। उसके पास एक पालतू तीतर था, जिसे वह अन्य पक्षियों को आकृष्ट करने के लिए इस्तेमाल किया करता था। अतिथि-सत्कार का अन्य कोई उपाय न देखकर उसने उस तीतर को ही मारने का निश्चय किया। तीतर ने अपनी जान बख्स देने के लिए अनुनय करते हुए कहा, "मेरे न रहने पर तुम्हारा जाल फैलाना बेकार जायेगा। कौन चहचहा कर तुम्हें सुलाएगा और कौन तुम्हारे लिए पक्षियों को बहलाकर लायेगा?" बहेलिये ने उसे मुक्त कर दिया और एक सुन्दर जवान मुर्गे को काटने का निश्चय किया। मुर्गा भी पेड़ की डाल से अपनी करुण आवाज में बोला, "यदि तुम मुझे मार डालोगे, तो तुम्हें भोर होने की सूचना कौन देगा? कौन तुम्हें सुबह उठाकर चिड़ियों का जाल

देखने भेजेगा?'' बहेलिये ने उत्तर दिया, ''तुम जो कुछ कहते हो, वह सही है। समय की सूचना देनेवाले तुम बड़े उपयोगी पक्षी हो, पर मुझे और मेरे मित्र को भोजन भी तो करना है।''

वर्तमान जरूरत भावी उपयोगिता की परवाह नहीं करती।

फूली हुई लोमड़ी

कुछ लकड़हारे भोजन करने के बाद बचा हुआ खाना एक वृक्ष की कोटर में रख गये थे। एक भूखी लोमड़ी की निगाह उस पर जा पड़ी और अपने लोभ के वशीभूत होकर वह कोटर में घुसकर सारा भोजन चट कर गयी। सब कुछ खाने के बाद उसका पेट इतना फूल गया था कि वह उस कोटर से बाहर निकलने में असमर्थ हो गयी और रोते हुए अपने भाग्य को कोसने लगी। उधर से होकर गुजरती हुई एक अन्य लोमड़ी ने उसके रोने की आवाज सुनी और उसके पास आकर उसकी परेशानी का कारण पूछा। सब कुछ सुनने के बाद वह बोली, ''अहा, बहन, जब तक तुम पहले जैसी नहीं हो जाती, तब तक तुम्हें उसी कोटर में रहना होगा। बाद में तुम आसानी से बाहर आ सकोगी।''

मनुष्य को पूरी तौर से लोभ के वशीभूत न होकर विचारपूर्वक ही अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करनी चाहिए।

जंगली सूअर और लोमड़ी

एक जंगली सूअर एक पेड़ के नीचे खड़ा होकर उसके तने से अपने दाँत रगड़ रहा था। पास से होकर गुजरती हुई एक लोमड़ी ने उससे पूछा कि जब न उसे मनुष्यों से भय है और न कुत्तों से, तब फिर वह क्यों इस प्रकार अपने दातों को पैना कर रहा है। उसने उत्तर दिया, ''मैं खूब सोच-समझकर ही ऐसा कर रहा हूँ, क्योंकि जिस समय मुझे अपने दाँतों की जरूरत पड़ेगी, उस समय मुझे अपने हथियारों को तेज करने का अवसर नहीं मिलेगा।''

मनुष्य को भविष्य का आकलन करके पहले से ही व्यवस्था कर रखनी चाहिए।

मधुमक्खी और पहलवान

एक मधुमक्खी एक पहलवान के नंगे पाँव पर बैठ गयी और उसे काट लिया। उस व्यक्ति ने सहायता के लिए जोर से चिल्लाकर हरकुलिस देवता को पुकारा। उस मक्खी के दुबारा पाँव पर बैठने पर वह कराहते हुए बोला, ''हे हरकुलिस, यदि तुम एक मक्खी के विरुद्ध मेरी सहायता नहीं कर सकते, तो फिर बड़े प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध तुम्हारी सहायता की भला मैं कैसे उम्मीद कर सकता हूँ?''

दो मेढक

एक ही तालाब में दो मेढक रहा करते थे। जब गरमी के मौसम में तालाब सूख गया, वे उसे छोड़कर एक नये घर की तलाश में एक साथ निकल पड़े। साथ साथ जाते हुए वे एक जल से परिपूर्ण गहरे कुएँ के पास से होकर गुजरे। उसे देखकर एक मेढक ने दूसरे से कहा, ''क्यो न हम इसी मे उतर कर इसे अपना घर बना लें; इसमें हमें रहने-खाने की सुविधा हो जायेगी।'' इस पर दूसरे ने बड़ी सावधानी दिखाते हुए कहा, ''लेकिन मान लो इसका पानी भी समाप्त हो जाय, तो फिर हम इतनी गहराई से फिर बाहर कैसे निकलेंगे?''

परिणाम सोचे बिना कुछ भी करना उचित नहीं है।

बिल्ली और चूहे

एक मकान में चूहे बहुत हो गये थे। जब एक बिल्ली को इस बात का पता चला, तो वह उसमे घुस गयी और उन्हे एक एक कर खाने लगी। अपने जीवन पर आया संकट देखकर चूहो ने अपने बिलो से बाहर निकलना बन्द कर दिया। अपना पेट भरना दूभर हो जाने से अब बिल्ली ने सोचा कि किसी उपाय द्वारा उन्हें ललचाना चाहिए। यह सोचकर वह एक खूँटे पर कूदी और उसी से लटकी हुई मर जाने का अभिनय करने लगी। एक चूहे ने चोरी चोरी अपने बिल में से झाँकते हुए उसे देखा और बोला, ''अहा, मेरी भली मैडम, यदि तुम भोजन की थैली में भी बदल जाओ, तो भी हम तुम्हारे पास फटकने वाले नहीं हैं।''

धोखाधड़ी हमेशा सफल नही होती।

हिरण और शेर

शिकारियों के द्वारा पीछा किये जाने पर एक हिरण ने भागकर एक गुफा में आश्रय लिया। उस बेचारे को ज्ञात नही था कि यह एक शेर की गुफा है। उसे आते देखकर शेर छिप गया, परन्तु जब हिरण गुफा में आकर पूरी तरह सुरक्षित हो गया, तब वह उस पर टूट पड़ा और उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। हिरण ने कहा, ''धिक्कार है मुझे, जो आदमियों से तो बच गया, परन्तु एक जंगली जानवर के मुख मे जा पड़ा।''

हमें सावधानी बरतनी होगी कि कही एक बुराई से बचने के प्रयास में हम दूसरी बुराई के शिकार न हो जायँ।

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(स्वामीजी के पूना निवास के दौरान वहाँ के सुप्रसिद्ध सनातनी विद्वान् श्री महादेव शिवराम गोले की शंका का समाधान करते हुए स्वामीजी ने ईसाई-धर्म तथा पाश्चात्य सुधारवाद का विवेचन किया था, उसे हमने पिछले दो अंकों मे देखा। अब उसी के अन्तिम अंश के रूप मे आइए हम देखे कि स्वामीजी के हिन्दू धर्म के मूलतत्त्वों पर उनके क्या विचार है। – सं.)

हिन्दू धर्म के पच महातत्त्व

"हिन्दू धर्म का अब तक काफी रूपान्तरण हो चुका है। प्रत्येक परिवर्तन के समय विवेक को स्थिर रखते हुए कुछ नवीन तत्त्व प्रबलतापूर्वक लोगो के मन पर छा जाते हैं और उसी प्रकार रूपान्तर के समय कुछ तत्त्व पीछे रह जाते हैं, कुछ बने रहते है और कुछ नवीन तत्त्व धर्म में अन्तर्भूत हो जाते है। इन तत्त्वों के आलोक में यदि हिन्दू धर्म का इतिहास लिखा जाय, तो इस प्रकार अति उत्तम रीति से दिखाया जा सकता है कि हमारे पूर्वजो का मन पारमार्थिक विवेक की दृष्टि से कितना सुसंस्कृत होता गया है। परन्तु फिलहाल उस विषय पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। हिन्दू लोगों के सुधार का काल गये अनेक शताब्दियाँ बीत गयी हैं। चूँकि उनमें सुधार जल्दी आरम्भ हुआ, अत: वह काल शीघ्र बीत गया। परन्तु अन्य प्राचीन राष्ट्रों की भाँति, हमारा सुधार समाप्त होने के साथ साथ हमारा भी लोप नही हो गया। इसका कारण यह है कि उत्कृष्ट धर्म-व्यवस्था के चलते हमारे यहाँ प्रत्येक वर्ग के कर्तव्य उत्तम रीनि से निर्धारित कर दिये गये थे और किसी को भी जीवन के लिए विशेष प्रकार के संघर्ष की आवश्यकता नही रही। जिसका जो कर्तव्य है, उसे पूरा करना चाहिए, ऐसा निश्चित रखने के कारण कभी भी सम्पूर्ण राष्ट्र युद्ध में उलझा नही। युद्ध करना जिनका काम नही, वे सामने युद्ध चल रहा हो तो भी तटस्थ रहते थे। इस कारण, यद्यपि अनेक राज्य-क्रान्तियाँ हुई, तथापि नवीन शासको को देश के सभी लोग शत्रु के समान प्रतीत नही हुए और वे लोग वैसे थे भी नही। प्राय: प्रजाजन की उद्यमशीलता एवं धर्मपरायणता देखकर नवीन राजकर्ताओ का उन पर प्रेम हो जाता था; उनकी समझ मे आ जाता था कि प्रजा के हित-चिन्तन में ही राज्य की समृद्धि का बीज निहित है।

"नवीन राजकर्ताओं को उचित कर चुकाते हुए अपने कर्तव्य पूरे करते जाने और पूर्ण सन्तोष के साथ अपना जीवन बिताने की हमारी जो रीति है, वह दूसरे विलीन हो जानेवाले राष्ट्रो म नही दीख पड़ती। हमारा यह विशेष गुण परम्परा-क्रम से चले आ रहे जातिभेद के कारण हममे आया है। ऐसा कहना अनुचित न होगा कि इस जातिभेद ने ही अनेक राज्य-क्रान्तियो से हमें पार लगाया है। जातिभेद तथा निश्चित कर्तव्यशीलता का यह महत्त्व अंग्रेज शासको के ध्यान में नही आया है और वे जातिभेद को समाप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु ऐसा करना उनकी राजसत्ता की स्थिरता मे बाधक होनेवाला है। हिन्दुस्तान में जीवन के लिए संघर्ष काफी कम दीख पड़ता है और इस पर राज्यकर्ताओं को आश्चर्य होता है; परन्तु इसे भी धर्म तथा जातिभेद का परिणाम मानना चाहिए। हमारा धर्म तथा जातिभेद यदि इसी प्रकार कायम रहा, तो पहले के ही समान आगे भी चाहे जितनी भी राज्य-क्रान्तियाँ हों, परन्तु हम उनसे सुरक्षित रूप से पार हो जाएँगे। किसी भी राज्यकर्ता के लिए हिन्दुओं पर राज्य करना जितना सुलभ एवं सहज है, उतना विश्व के किसी भी अन्य धर्म के लोगो पर होनेवाला नहीं हैं।"

"सुधार-काल के पश्चात् राज्य की ऐश्वर्य सम्बन्धी महत्वकांक्षा में काफी कमी आ जाती है और वह राष्ट्र धर्म की ओर झुकता है। हमे जो इतने शीघ्र धार्मिक अथवा पारमार्थिक सुखो में रुचि हो गई, इसका कारण इस देश की जलवायु तथा स्थिति होनी चाहिए। इस उष्ण कटिबन्ध में अत्यधिक शारीरिक परिश्रम करना सम्भव तथा हितकर भी नही है। फिर यहाँ की शारीरिक आवश्यकताएँ भी थोड़ी हैं और थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त होनेवाली हैं। पाश्चात्य लोगों का भी अनुभव है कि इन आवश्यकताओं (खाने-पीने का आनन्द, आवश्यकता से अधिक कपड़े-लत्तो का उपयोग आदि) में वृद्धि करना आरोग्य के लिए भी हितकर नही होता। ऐसी स्थिति में थोड़ा परिश्रम करके विश्राम करना और विश्राम के समय पारमार्थिक विचार करना – यही स्वाभाविक है और इसी मार्ग को हमारे धर्म में श्रेयस्कर माना गया है।

"हिन्दू धर्म के तत्त्व हिन्दू मानस में भिदे हुए हैं और उसका परिणाम हिन्दू के दिन-प्रतिदिन के आचरण में भी दृष्टिगोचर होता है। यह सत्य है कि बहुत-से लोग इसका स्पष्ट रूप से निरूपण नही कर सकते, परन्तु इसका कारण यह है कि अब तक किसी ने तत्त्व-संशाधन की दृष्टि से हिन्दू धर्म पर ठीक से विचार नही किया है।

"हिन्दू धर्म का पहला तत्त्व है – ईश्वर की व्यापकता। यदि किसी अनाड़ी हिन्दू से भी पूछा जाय कि ईश्वर कहाँ है, तो उत्तर मिलेगा कि वह जल, थल, काष्ठ, पाषाण आदि सबमे अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त है। ऐसा कुछ भी नही, जहाँ ईश्वर का अंश न हो। यह तत्त्व स्वीकार कर लेने पर, जहाँ भी श्रद्धा बैठती हो, वहीं पर ईश्वर की हितैषिता दिखती है; जहाँ भी ईश्वर के गुणो का बोध होने का, स्मरण होने का

कारण दिखता हो, वहीं हिन्दुओं में पूज्यता का भाव उत्पन्न होता है। अश्वत्थ, वट आदि विशाल वृक्ष छाया देकर अपना उपकारित्व व्यक्त करते हैं, गंगा-यमुना आदि नदियाँ जल देकर और पृथ्वी तृण-धान्य आदि देकर उसे व्यक्त करती है। साधु-सन्त उच्चज्ञान, सदुपदेश, परोपकार तथा अन्य श्रेष्ठ गुणों के द्वारा अपने भीतर के ईश्वरीय अंश का अनुभव करा देते हैं। श्रद्धा या भाव के कारण मूर्ति में भी ईश्वरीय अंश दिखता है। केवल नाम-स्मरण से भी मन को ईश्वर का बोध होता है। इस तरह ईश्वर की व्यापकता का तत्त्व हिन्दुओं के मन को प्रभावित कर रहा है। और ईश्वर सम्बन्धी जो पूज्यता का भाव पूर्णत्व के द्वारा उत्पन्न होना चाहिए, लगता है उसका हमारे भीतर अनेक मार्गों से प्रादुर्भाव होता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम ईश्वर में ही निवास कर रहे हैं।[१] ईसाई तत्त्ववेत्ताओं को भी ईश्वर की व्यापकता स्वीकार्य है, तथापि आश्चर्य की बात है कि उन्होंने इसका अपने धर्मतत्त्व में समावेश नहीं किया है।

"ईश्वर और मनुष्य, परमात्मा और आत्मा – इनके बीच मूल रूप से राजा और प्रजा के समान सम्बन्ध है। यह हिन्दू धर्म का दूसरा तत्त्व है। इस तत्त्व के अनुसार ईश्वर से जो जो चीजें हमें प्राप्त होती है, उनका कुछ अंश हमें ईश्वर-प्रीत्यर्थ अर्पण करना चाहिए।[२] ईश्वर के समक्ष अपनी विनम्रता प्रकट करने तथा प्रत्यक्ष रूप से उनके प्रति कृतज्ञता स्वीकार करने के लिये ही ऐसी योजना की गई है; इसके पीछे ऐसा उद्देश्य नहीं कि ईश्वर को किसी वस्तु का अभाव है, जिसे पूरा करना है। परन्तु आगे चलकर इस योजना का भक्ति, त्याग एवं परोपकार के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और इससे अनेक उत्कृष्ट धार्मिक प्रथाओं का उदय होता है।

"अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में राजा और प्रजा का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का माना गया है। प्राचीन काल से ही प्रजा के बीच ऐसी मान्यता है कि देश में राजा के न होने से बढ़कर दूसरी कोई विपत्ति नहीं हो सकती। राजा ही प्रजाजन का माता-पिता और मित्र-सम्बन्धी है। भक्तिभाव के कारण यही सम्बन्ध ईश्वर के साथ भी जुड़ गया। इसी कारण साधु-सन्तों ने ईश्वर से प्रार्थना करते समय भक्तिरस से गद्गद होकर उन्हें देवराय, बाप्पा पाण्डुरंग, विठाई माउली आदि रूपों में सम्बोधित किया है। माता-पुत्र का जो सम्बन्ध है, वह ईश्वर के साथ किसी भी अन्य धर्म में नहीं जोड़ा गया है। पिता-पुत्र की अपेक्षा माता-पुत्र का सम्बन्ध अधिक निकट का है। इस कारण इससे मनुष्य की अनाथता और ईश्वर की वत्सलता उत्कृष्ट रूप से व्यक्त होती है। ज्यों ज्यों मन भक्तिमार्ग पर अग्रसर होता है, त्यों त्यों ईश्वर पर विश्वास बढ़ता जाता है; उस ओर अपनी अभिरुचि अधिक होती जाती है और फिर अन्त:करण की **त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुः स्वजनस्त्वमेव** – ऐसी ईश्वरपरायण वृत्ति हो जाती है।[३]

"संसार के अन्न-पान आदि कुछ नित्यकर्मों के अतिरिक्त मनुष्य की बाकी समस्त क्रियाएँ माता-पिता, कन्या-पुत्र, इष्ट-मित्र को आनन्द प्रदान करने में नियोजित होती हैं। मनुष्य मुख्यत: अपने कुटुम्ब तथा बान्धवों के हित के लिए ही ज्ञानार्जन एवं द्रव्यार्जन का प्रयास करता है और ऐहिक दु:ख, कष्ट, चिन्ता, विपत्ति आदि सब सहन करने को तैयार होता है। भक्तिभाव के द्वारा ईश्वर के परम श्रेष्ठ आत्मीय हो जाने पर, उसका प्रिय करने के लिए, उसे सन्तोष प्रदान करने के लिए, मनुष्य कौन-सा कर्म करने को, कौन-सा दु:ख सहन करने को तैयार नहीं होगा? ईश्वर के प्रिय होने का उपाय है – उनके गुणों का अनुसरण करना, उनकी आज्ञा का पालन करना और उनके द्वारा दी गई उत्कृष्ट प्रेरणा अर्थात् विवेक का अनुसरण करना। ईश्वर को सन्तुष्ट करने के लिए क्या करना चाहिए? यही कि सृष्टि में ईश्वरीय अंश से उत्पन्न जितने व्यक्ति हैं, जिनके सुख-सन्तोष की सम्भावना हमें दिखती है, उन सभी व्यक्तियों को अपने आचरण के द्वारा सुख प्रदान करना। अपना शरीर, अपना बल, अपनी बुद्धि तथा अपनी सम्पत्ति – यह सब अपने चारों ओर सर्वत्र सन्तोष दिखे, इस हेतु खर्च करने पर ईश्वर को सन्तोष होता है। इस प्रकार अपना जीवन ही सन्तोषमय हो जाता है। इसके लिए जो स्वसुख-त्याग अथवा द्रव्यत्याग होता है, उसी को कभी कभी धर्म की संज्ञा दी जाती है। व्यवहार में इसके अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण दीख

१. त्वमादिदेव: पुरुष: पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशांक: प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व: पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥
नम: पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व: ॥
– हे अनन्तरूप! आप ही आदि देव, प्राचीन पुरुष हैं और विश्व के परम आश्रय हैं। आप ही ज्ञाता, ज्ञेय व परम लक्ष्य हैं; आपसे ही यह पूरा विश्व व्याप्त है॥ आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति तथा पितामह ब्रह्मा हैं। आपको हजारों बार और पुन: बारम्बार नमन करता हूँ॥ हे सर्वात्मा! मैं आपको सामने, पीछे और सभी ओर से नमन करता हूँ। आप अनन्त वीरता, विक्रममय और सर्वरूप हैं॥ (गीता, ११/३८-४०)

२. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन: ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
– जो कोई मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल मात्र भी भक्तिपूर्वक अर्पित करता है, उस शुद्ध चित्तवाले की वह प्रीतियुक्त वस्तु का मैं भोग करता हूँ॥ तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ, दान या तप करो; हे अर्जुन, वह सब मुझको अर्पित कर दो। (गीता, ९/२६-२७)

३. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
– जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुओं का योगक्षेम मैं सँभालता हूँ। (गीता, ९/२२)

पड़ते हैं। अनेक महात्माओं ने ऐसा माना है कि दीन-दुखियों की सहायता करना, परोपकारार्थ तालाब-धर्मशाले आदि बनवाना, ईश्वर के ध्यान-स्मरण-पूजन-उत्सव आदि के निमित्त मन्दिर का निर्माण करवाना, ईश्वर के विराट् परिवार अर्थात् जीवमात्र के प्रति सहानुभूति का भाव रखना, इस सभी कार्यों में यथाशक्ति व्यय करना, इतना ही नहीं बल्कि सर्वस्व अर्पित करना और कुल मिलाकर जगत् के सन्तोष को ही ईश्वर का सन्तोष मानना – यही धर्म अथवा यही श्रेष्ठतम धर्म है। हिन्दू धर्म में भक्ति-मार्ग और तदनुसार धर्माचार एवं त्याग-माहात्म्य क्रमशः किस प्रकार उत्पन्न होता गया, यह अगले धर्मतत्त्व से समझ में आ जाता है।

"हिन्दू धर्म का तीसरा मूलतत्त्व अनृणत्व[४] है। पहले सर्व प्रकार के ऋणों का मोचन होना चाहिए, किसी का भी ऋण बाकी न रह जाय। मनुष्य जब समाज में रहता है, तो उसका अनेक लोगों के साथ सम्बन्ध आता है और उन लोगों से उसे अनेक प्रकार के लाभ मिलते हैं। ये लाभ चाहे प्रत्यक्ष हों अथवा परोक्ष, परन्तु जिन लोगों से वह प्राप्त होता है, उनसे हमें उऋण हो जाना चाहिए। माता-पिता ने हमें जन्म देकर और ममतापूर्वक पालन करके हम पर उपकार किया है; मित्रों ने हमारे प्रति प्रेम दिखाकर, सलाह देकर, आश्यकतानुसार सहायता देकर हमारा उपकार किया है; इसी प्रकार गुरु ने ज्ञान देकर तथा विनय सिखाकर हमारा उपकार किया है। परोपकारी व्यक्तियों के और वस्तुतः सभी लोगों के हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ऋणी होते हैं तथा इसी प्रकार पूर्वजों का उपकार भी स्मरण रखना हमारा कर्तव्य है। अधिक क्या कहें, हम प्राणिमात्र के ही ऋणी हैं; और यह ऋण जितना है, उतना हमारी ओर से शोध होना चाहिए तथा उचित रीति से होना चाहिए। इस अनृणत्व के तत्त्व से अनेक धर्माचार उत्पन्न होते हैं। ईश्वर का अनृणी होने के लिए उन्हें अपना पूरा जीवन समर्पित करना चाहिए – यह दूसरे तत्त्व से सिद्ध होता है; परन्तु दूसरे मनुष्यों के प्रति कर्तव्य उस तत्त्व से स्पष्टतः निश्चित नहीं होता, वह इस तीसरे तत्त्व के अन्तर्गत आता है। माता-पिता के उपकार से उऋण होने का उपयुक्त मार्ग है – उनकी आज्ञा मानना, उन्हें मान-सम्मान देना, वृद्धावस्था में उनका पालन-पोषण करना इत्यादि। कन्या-पुत्र के सम्बन्ध में अनृणी होने के उपाय हैं – उनका पालन-पोषण, शिक्षण, विवाह तथा ऐसी व्यवस्था करना, जिससे उनका जीवन सुखपूर्वक बीते। दम्पति को एक-दूसरे से अनृणी होने के लिये अव्यभिचार के द्वारा अन्य के हित में ही अपना सुखसर्वस्व मानना चाहिए। इसी प्रकार गुरु, मित्र, समाज, पूर्वज आदि के प्रति भी हमारे कर्तव्य उत्पन्न होते हैं और उन्हें उचित रीति से पूरा किये बिना धर्मसाधन नहीं होता। स्नान-सन्ध्या, श्राद्धकृत्य, होम-हवन, अहिंसा आदि जो पुरानी धार्मिक क्रियाएँ अब भी प्रचलित हैं, उनका बीज इस अनृणत्व के तत्त्व में ही प्राप्त है। केवल ईश्वरपरायण क्यों हुआ जाय? जगत्-प्रपंच में क्यों फँसना? ऐहिक कर्ममार्ग कैसे होता है? इन समस्त प्रश्नों के उत्तर इसी एक तत्त्व के आधार पर दिये जा सकते हैं। सबका अनृणी हो जाने पर फिर संन्यासाश्रम तथा शुद्ध आत्मपरता अथवा ईश्वर-परायणता को अभीष्ट एवं श्रेष्ठ माना गया है।

"हिन्दू धर्म का चौथा मूल तत्त्व यह कि जो अक्षय, अविनाशी अथवा शाश्वत है, वही ग्राह्य है और जो क्षय-वृद्धि को प्राप्त होता है, नश्वर अथवा अशाश्वत है, वह त्याज्य है। इसी तत्त्व को हिन्दू धर्मकारों ने नीति की नींव बनाया है। कौन-सा सुख ग्राह्य है और कौन-सा त्याज्य – इस पर विचार करते समय यह तत्त्व उपयोग में आता है। इस तत्त्व के अनुसार असत्य, अतिलोभ, व्यभिचार, मद्यपान आदि दुराचार दोषी ठहरते हैं। इस तत्त्व से ऐसा लगता है कि केवल प्रापंचिक सुख में निमग्न होकर परमार्थ को भूल जाना उचित नहीं। हिन्दू लोगों में जो विशेष सन्तोष का भाव दीख पड़ता है और जो छोटे-मोटे कार्यों तथा बड़े राष्ट्रीय कार्यों में भी समान रूप से परिलक्षित होता है, उसका मूल इसी तत्त्व में है। कपड़े-लत्ते बनवाने हों, तो उसके बाह्य स्वरूप पर विशेष ध्यान न देकर उसके टिकाऊपन को देखा जायेगा; बर्तन-भाँड़ सब ताँबे के चाहिये काँच के नहीं; धन का संचय सोने-चाँदी के रूप में होना चाहिए, कागजी नोटों के रूप में नहीं; सम्पत्ति अचल चाहिए, सचल नहीं; प्रतिदिन की दाल-रोटी ही अच्छी है, क्षणकालिक राजसत्ता नहीं। इस प्रकार की हिन्दू लोगों में जो सन्तोष की वृत्ति है, इसके फलस्वरूप ठाट-बाट, तड़क-भड़क, खाने-पीने की मौज, खूब सुखभोग करने की हबस, धन एकत्र करने के लिए अतिरिक्त उद्यम करने की इच्छा अथवा राज्य में प्रबल होने, लोगों पर सत्ता चलाने तथा उसके द्वारा प्रतिष्ठा लाभ करने की महत्वाकांक्षा – ये सारे विषय उन्हें विशेष महत्व के नहीं प्रतीत होते। इस विषय में आयु अथवा स्वभाव के अनुसार यदि कभी हममें उत्साह उत्पन्न भी हुआ, तो वह ज्यादा टिकता नहीं; हमारा आवेश क्रमशः गलता जाता है। 'ये सब चीजें आज हैं और कल नहीं, इन्हें लेकर क्या होगा, इनके लिए क्यों व्यर्थ प्रयास करना?' हमारे अन्तःकरण में क्रमशः ऐसे वैराग्यपूर्ण विचार उत्पन्न होते हैं और हमारा उद्यम शिथिल पड़ता जाता है। 'अशाश्वत का संग्रह कौन करे!' कवि की यह वाणी हमारे सन्तोषी स्वभाव

---

४. ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि।
पितृदेवार्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्चधर्मतः ॥
यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्।
पुत्रैः श्राद्धैः पितृंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ॥ (महाभा.,आदि/११०)

– प्राचीन धर्मकारों ने ये तीन या चार ऋण बताएँ हैं, पर इसका भाव यह समझना चाहिए कि ये प्रमुख हैं। वास्तव मे देखा जाय तो वे अनेक हैं।

तथा इस चौथे तत्त्व को व्यक्त करती है। और यह सत्य है।

"हिन्दू धर्म का पाँचवाँ तत्त्व यह है कि ईश्वर ने जिस स्थिति में हमें पैदा किया है, उसी स्थिति में अपने जीवन को पूर्ण बनाकर दिखाना होगा। **स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:** – इस वचन के द्वारा इस तत्त्व का बोध होता है।

"**स्वतंत्रता, समता तथा बन्धुत्व** – राज्यक्रान्ति लानेवाले तथा व्यवहार में अप्रयोज्य इस तत्त्व को हिन्दू धर्म ने स्वीकार नही किया है, विकासवादियों ने इसे अनुपयुक्त ठहराया है और कोई भी ईसाई धर्मोपदेशक जब अन्य धर्मावलम्बियों को उपदेश देने जाता है, तो उसे यह तत्त्व समझने नहीं देता। ईसाई धर्म की उत्पत्ति मत्स्याहारी निम्नवर्ग के श्रेष्ठ लोगों के बीच हुई, इस कारण यह बात उनके ध्यान में नहीं आयी कि प्राकृतिक गुणभेद के अनुसार व्यवहार में मनुष्यों का वर्गीकरण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि मनुष्यों के परस्पर बन्धुत्व तक ही गई, पशुहिंसा-निवारण तक नहीं पहुँची। युरोपवासियों का हिन्दू लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने के बाद से उनमे सर्वभूतों के प्रति अनुकम्पा का तत्त्व मान्य होने लगा है। मानवेतर प्राणियों के साथ क्रूरतापूर्ण आचरण न हो, इसके लिए क्रूरता-निवारक समितियों की स्थापना हो रही है। जीवित प्राणियों पर वैज्ञानिक प्रयोग करके उन्हें यातना न दी जाय – उन लोगों ने ऐसा नियम बना दिया है। कितने ही लोग मांसाहार छोड़कर शाकाहारी बन गये हैं। इन्हें तथा ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण देखें, तो ईसाई धर्म पर पड़ा हिन्दू धर्म का प्रभाव ध्यान में आता है। परन्तु विकासवादियों के जीवनार्थ संघर्ष का तत्त्व यूरोपवासियों द्वारा स्वीकृत हो जाने के कारण यह प्रभाव प्रबल नहीं हो पा रहा है।

"अस्तु। हिन्दू धर्म ने सर्व मनुष्यों के प्रति सौजन्य तथा सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा की बात कही, परन्तु सर्व भूतों अथवा समस्त मनुष्यों की समान योग्यता की बात नहीं कही, क्योंकि वह यथार्थ नहीं हैं। गुण-कर्म के अनुसार मनुष्यों में भेद रहने ही वाला है और इस भेद के कारण उनकी मनोवृत्तियों का अलग अलग ओर झुकाव होने ही वाला है, इस सच्ची स्थिति को जानकर धर्म ने वर्णभेद की स्थापना की। इस वर्णभेद से, ईश्वर के साथ सबका सम्बन्ध समान ही रहा, परन्तु समाज का उचित वर्गीकरण हो जाने से उसमें स्थिरता आयी। प्रत्येक वर्ग के सामान्य कर्तव्य निश्चित हो गये, इस कारण समाज के आन्तरिक कारणों से क्रान्ति, नृशंसता तथा रक्तपात होने का भय नहीं रहा। गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति में, स्वकर्मों में पूर्णता लाने में और सामाजिक तथा पारमार्थिक कृत्यों के द्वारा उपकारी होने में वर्णभेद बिल्कुल भी बाधक नही होता। पिछले पाँच-सात सौ वर्षों के दौरान हुए साधु-सन्तों, हिन्दू शासकों, व्यावहारिक कार्यों में लगे व्यक्तियों आदि सबके आचरण यदि हम देखें; इतना ही नहीं, वर्तमान काल की भी प्रत्येक जाति की स्थिति का यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करें, तो हमें इस बात पर विश्वास होगा। मूर्ख तथा दुराग्रही लोग तो सर्वत्र होते ही हैं, ऐसे विवेचन में केवल उन्हीं के कृत्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

"इस प्रकार वर्तमान हिन्दू धर्म का स्वरूप इन पंचतत्त्वों पर आधारित है। इनमें स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्मवाद आदि का समावेश नहीं किया गया, क्योंकि जो तत्त्व कर्तव्य-नियामक होते है, उन्हीं को मूल समझना चाहिए; बाकी आनुषंगिक हुआ करते हैं। एक बार कर्तव्य नियमित हो जाने पर, अर्थात् कौन-सा पाप है और कौन-सा पुण्य यह निर्धारित हो जाने पर, पापी तथा पुण्यवान लोगों को कौन-सी सजा तथा पुरस्कार, कैसे प्राप्त होते हैं, आदि प्रश्नों का उदय होता है। परन्तु विचार करने से दीख पड़ेगा कि वे गौण हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म के ये पंच महातत्त्व सभी धर्मों की उच्च अवस्था में उन पर लागू होने के योग्य हैं। पारमार्थिक कर्मयोग का यह अति उत्कृष्ट स्वरूप है। इन तत्त्वों की सहायता से कभी कभी हिन्दू धर्म में संशोधन होता जाय, तो हिन्दू जन इसमें सहमति देंगे और यह प्रयत्न सभी विद्वान् सुविज्ञ पुरुषों को आरम्भ कर देना चाहिए। पाश्चात्य सुधार के समान हमारे समाज का सुधार करने के दिन चले गये। पाश्चात्य विकासवादियो को जीवनार्थ संघर्ष का जो तत्त्व अनिवार्य प्रतीत हो रहा है, उनमें से अविचारी लोग जिसे अपने नीच कृत्यों के मण्डनार्थ अपना रहे हैं, और उनमें से धार्मिक तथा श्रेष्ठ मनोवृत्ति के लोगों को जो पूर्णत: घृण्य एवं त्याज्य प्रतीत होता है – वह तत्त्व अनिवार्य नहीं है; हिन्दू धर्म के इन पंच महातत्त्वों पर विचार करने से दीख पड़ता है कि उसके बिना ही मनुष्य बड़प्पन के साथ स्वयं को तथा समाज को जीवित रख सकता है। हिन्दू समाज के इतने शताब्दियों का जीवन, इसी सिद्धान्त को प्रमाणित करता है।"

श्री महादेव शिवराम गोले द्वारा श्रुन तथा अपनी भाषा में लिपिबद्ध उपरोक्त विचार विश्व के राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास पर एक नया आलोकपात करते हैं। स्वामीजी के परवर्ती व्याख्यानों तथा लेखों में भी इनमें से अधिकांश विचार यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते है और हिन्दू धर्म के इतिहास में उसके मूलतत्त्वों का साधारणीकरण करने का यही पर हमे प्रथम प्रयास भी दीख पड़ता है। आगामी वर्ष स्वामीजी ने शिकागो में पुन: एक निबन्ध लिखकर भिन्न प्रकार से हिन्दू के विशेषताओं पर सविस्तार प्रकाश डाला था। ❖ **(क्रमश:)** ❖

(अगले अंक मे हम देखेगे कि स्वामीजी पूना से किस प्रकार मध्य भारत पहुँचे और वहाँ कई स्थानो का परिभ्रमण करने के बाद मुम्बई आकर दीर्घ काल तक ठहरे। वहाँ पर वे जिन लोगो से मिले तथा जैसे कालयापन किया, इस विषय मे भी हम यत्किंचित् जानकारी देने का प्रयास करेंगे।)

आचार्य रामानुज (१८)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेनै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी मे भी वे धर्मप्रचार शुरू करे। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१४. रामानुज के भ्राता गोविन्द द्वारा वैष्णवमत-ग्रहण

सच कहें तो श्रीमद् यामुनाचार्य के तिरोभाव के बाद से श्रीरंगम का मठ एक तरह से नेतृत्वविहीन हो गया था। महापूर्ण तथा वररंग यद्यपि उन महापुरुष के सुयोग्य शिष्य थे, तथापि वे और उनके अन्य गुरुभ्रातागण निरन्तर अपने हृदय में उन सर्वशास्त्र-मर्मज्ञ, ईश्वरानुराग-विग्रह, सौम्यमूर्ति महानुभाव का अभाव बोध करते रहते थे। परन्तु उनके मन मे उस अभाव के दूर होने की एक बलवती आशा जाग्रत थी। गुरुदेव के मुख से सबने श्री रामानुज की भूरि भूरि प्रशंसा सुनी थी। उन्होंने बाम्बार अपने शिष्यो को बताया था कि रामानुज एक अवतारी पुरुष हैं। उन्हें लाने के लिए महापूर्ण को भेजा गया था। उन भक्ताग्रगण्य ने काफी दिन रामानुज के घर में रहकर उन्हें तमिल प्रबन्धमाला में विशेष पारंगत कर दिया था। अब वे अपनी पत्नी के साथ श्रीरंगम लौट आये थे। रामानुज को साथ ही ले आने की उनकी बड़ी इच्छी थी, परन्तु सहसा चले आने के कारण ऐसा हो नहीं सका था। इसी बीच जब उन्होंने लोगों से सुना कि उनके देवतुल्य शिष्य ने संन्यास ग्रहण कर लिया है, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। वे अविलम्ब शेषशायी श्री रंगनाथ के चरणों में गये और हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "हे शरणागत पालक, हे परिपूर्ण परब्रह्म, तुम सबको पूर्णता प्रदान करनेवाले हो। श्रीमद् रामानुज को अपने चरणों मे लाकर हमारे महान् अभाव की पूर्ति करो।"

प्रेमगद्गद चित्त से ऐसी प्रार्थना करने के बाद उन्हें प्रभु से निर्देश मिला, "वत्स महापूर्ण, तुम देवगान-विशारद वररंग को कांचीपुराधिपति श्री वरदराज के पास भेजो। वे संगीत के बड़े प्रेमी है। वररंग के गायन पर प्रसन्न होकर जब वे वर देना चाहे, तो वे श्री रामानुज को माँग लें। उनका आदेश पाये बिना यतिराज (रामानुज) कभी उनके चरणों का त्याग नही करेंगे।"

महापूर्ण ने ऐसा आदेश पाने के बाद वररंग को अविलम्ब कांचीपुर भेजा। वहाँ जाकर वररंग ने अपने संगीत के द्वारा श्री वरदराज को ऐसा सन्तुष्ट किया कि गायकवर द्वारा भिक्षास्वरूप श्री रामानुज को माँगने पर, अपने प्रिय भक्त का विरह अत्यन्त दु:सह होने पर भी, त्रिलोकपति ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वररंग जब श्री रामानुज को साथ लेकर श्री रंगनाथ के चरणों मे लौटे, तो विशुद्ध-स्वभाव वैष्णव मठवासियो तथा नगर के समस्त लोगों के आनन्द की सीमा न रही। शेषशायी श्री रंगनाथ ने उन्हें दो विभूतियाँ प्रदान कीं – उनमें से एक तो दुखियों के दुख-निवारण और दूसरी भक्तों के प्रतिपालन की क्षमता थी। इन दो विभूतियों से युक्त होकर यतिराज रामानुज एक अपूर्व दिव्य शोभा से युक्त हुए। देश-देशान्तर से दल-के-दल वैष्णवगण आकर उनके चरण-युगल का स्पर्श कर अपने को कृतार्थ मानने लगे। उनके मुख से श्री विष्णु का माहात्म्य सुनकर सबने उन्हें एक आदर्श वैष्णव के रूप में स्वीकार किया।

उसी समय उनका मन अपने परम सुहृद गोविन्द के लिए व्याकुल हुआ। जिन गोविन्द ने यादवप्रकाश के भयानक षड्यंत्र से उनकी रक्षा की थी, जिनकी सरलता, भगवद्भक्ति तथा पाण्डित्य ने उनके सहपाठियों तथा गुरु को भी मुग्ध किया था, जिनके प्रेम से आकृष्ट होकर भूतनाथ शिव ने वाणलिंग के रूप में सेवा ग्रहण की थी, उन्ही अभिन्नहृदय मित्र को अपने दिव्य आनन्द में भागीदार बनाने को श्री रामानुज का मन व्यग्र हो उठा। वे विचार करने लगे कि किस प्रकार उन्हें कालहस्ती से लाया जाय। थोड़ी देर बाद उन्हें याद आया कि परम वैष्णव श्री शैलपूर्ण भगवान के सेवार्थ कालहस्ती के पास ही श्रीशैल में निवास करते हैं। उनके द्वारा गोविन्द को वैष्णव मत में ले आने पर यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने श्री शैलपूर्ण को एक पत्र भेजा। पत्र पढ़ने के बाद वे परम भागवत तत्क्षण अपने शिष्यों के साथ कालहस्ती के समीप जाकर एक विशाल सरोवर के तट पर ठहरे।

गोविन्द प्रतिदिन स्नान तथा पुष्पचयन करने उक्त सरोवर के तट पर आया करते थे। अत: अपनी दिनचर्या के अनुसार अगले दिन आकर उन्होंने देखा कि एक श्वेत दाढ़ीवाले दिव्य-कान्ति वैष्णव अपने कतिपय शिष्यों के साथ वहाँ बैठे शास्त्रचर्चा कर रहे हैं। उसे सुनने की इच्छा से वे निकट स्थित पटली वृक्ष पर फूल तोड़ने को चढ़े और उन्होंने जो कुछ सुना उससे उनके मन मे उक्त वैष्णव के प्रति विशेष भक्ति उपजी। जब वे वृक्ष से उतरकर स्नान हेतु जाने लगे, तभी श्री शैलपूर्ण ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, "महात्मन्, क्या मैं जान सकता हूँ कि तुमने किसकी सेवा के लिए फूल चुने हैं?" शिवपूजा के लिए चुने है – यह सुनकर वे बोले, "हे मतिमान्, जिन्होंने संसार को सर्वदुखो का मूल जानकर, सभी भोग-वासनाओं को

भस्मीभूत कर, उसी के द्वारा अपने को भूषित करके विभूतिभूषण नाम धारण किया है; जिन्होंने सर्वान्तर्यामी नारायण के प्रेम में उन्मत्त होकर श्मशान को ही अपना आवास बना लिया है, पुष्प आदि भोग-सामग्री उन्हें भला कैसे प्रिय हो सकती है? जो सहज ही अनन्त शुभ गुणों के आगार हैं, जिनके परम पवित्र हृदयकमल से इस पवित्र सर्वहितकर आब्रह्मस्तम्ब समुदय जीवों की निवासभूमि संसार ने जन्म लिया है, उन अनादि विष्णु के पादपद्मों में ही ये समस्त सुन्दर कुसुम शोभायमान होंगे। तुमने बुद्धिमान होकर भी शिवसेवा के लिए पुष्प एकत्र किये हैं, यह देखकर मुझे विस्मय होता है।''

इसके उत्तर में गोविन्द बोले, ''महात्मन्, आपने जो कहा वह सत्य हो सकता है, परन्तु मुझे तो इस विषय में बड़ा सन्देह है। भगवान की सेवा द्वारा हम लोग अपना ही भला करते हैं, इससे उनका कोई उपकार साधित नहीं होता। जो सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, उन्हें हम लोग भला दे ही क्या सकते हैं? सब तो उन्हीं का है। अतएव जिन्होंने त्रिलोक के कल्याणार्थ स्वयं विषपान करके सम्पूर्ण चराचर जगत् की रक्षा की थी, वे परम मंगलकारी सदा शान्तमूर्ति शंकर अपने दास से भला कौन-सी वस्तु पाने की अभिलाषा करेंगे? भक्ति ही उनका एकमात्र प्रिय धन है। वे हमसे भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते। सचन्दन पुष्पादि के द्वारा उनके श्री पादपद्मों की अर्चना करने से हमारी भगवत्प्रीति बढ़ती है, इसी कारण पूजा आदि की आवश्यकता है।''

यह सुनकर श्री शैलपूर्ण ने कहा, ''महात्मन्, तुम्हारी भक्ति एवं विनम्रता देखकर मुझे असीम आनन्द हुआ। तुमने जो कुछ कहा वह सत्य है। सर्वाधिकारी, सबके स्वामी को कौन क्या दे सकता है? दैत्यराज बलि के दातृत्व का अभिमान जिन्होंने वामन रूप में नाश किया था, उन्हें आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कुछ भी समर्पण नहीं किया जा सकता है। यह सर्वांगीण आत्मसमर्पण ही परापूजा है। इसी के बल पर उन्होंने भगवान को वामन रूप में बद्ध करके रख दिया है। बताओ तो, भगवान की यह लीला कैसी है? इन लीलामय हरि की उपासना छोड़कर लीलाद्वेषी शंकर की उपासना करने पर तुम्हें इस मधुर रस से वंचित रहना होगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारा जन्म वैष्णव कुल में हुआ है, अत: तुम्हारे लिए वैष्णव धर्म ही अनुसरणीय है। **स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:** – 'स्वभावगत धर्म में मृत्यु भी श्रेयष्कर है, परन्तु दूसरों का धर्म भयंकर है' – भगवान की इस उक्ति का स्मरण करो।'' गोविन्द बोले, ''महाशय, आप हरिहर में भेदभाव क्यों करते हैं? घण्टाकर्ण के जैसी भक्ति कभी प्रशंसनीय नहीं होती, शास्त्र का ऐसा ही मत है।''

प्रतिदिन प्रात:काल उनके बीच इसी प्रकार वादानुवाद चलता रहा। कहते हैं कि आखिरकार गोविन्द ने शैव-धर्म का परित्याग करके वैष्णव-धर्म ग्रहण कर लिया। श्री शैलपूर्ण ने उन्हें दीक्षा दी। दीक्षा पाने के बाद वे रामानुज के पास गये और उन्हीं के साथ निवास करने लगे।

दक्षिणी भारत में शैव-वैष्णव के बीच नित्य कलह होता रहता है। वैष्णव का दर्शन या उससे वार्तालाप करने के बाद स्नान करके ही शैव अपने को शुद्ध मानते हैं। वैष्णव की भी यही रीति है। इसके मूल कारण की खोज करने पर ऐसा लगता है कि अनेक लोग नैष्ठिक भक्ति की साधना में प्रवृत्त होकर मतभेद के फलस्वरूप ही ऐसी शोचनीय अवस्था को प्राप्त होते है। नैष्ठिक भक्ति हुए बिना भगवान का दर्शन नही मिलता। महाभारत (अनुशासन पर्व, अ. १४) से उपमन्यु का उपाख्यान पढ़ने से यह बात सहज ही हृदयंगम हो जायेगी।

उपमन्यु एक ऋषि के पुत्र थे। अपने एक भाई तथा अन्य ऋषिकुमारों के साथ खेलते समय उन्होंने एक दुधारू गाय को दूहे जाते देखा और इससे उनके मन में दूध-भात खाने की इच्छा जाग्रत हुई। घर लौटकर उन्होंने माता के समक्ष यह इच्छा व्यक्त की। इस पर घर में दूध न होने पर भी वात्सल्यमयी माता ने चावल के आटे का दूध बनाकर उसके साथ भात मिलाकर उन्हें खाने को दिया। उपमन्यु ने उसे चखकर दूध का मधुर स्वाद न पाकर कहा, ''माँ, यह तो दूध-भात नहीं है; पहले मैने एक बार पिता के साथ एक यज्ञस्थल पर दूध पीया था। अहा, वह कितना मधुर था! यह तो वैसा नहीं है।'' यह सुनकर माता बोलीं, ''बेटा, हम लोग तपस्वी हैं, भला दूध कहाँ पाएँगे? यदि तुम्हें दूध-भात खाने की इच्छा हो, तो फिर भूतनाथ देवाधिदेव शंकर के शरणागत होओ। उनकी कृपा से चारों फलों की प्राप्ति होती है।'' इस पर उपमन्यु ने कहा, ''उन शंकर जी का दर्शन कहाँ मिलेगा? उनका रूप कैसा है?'' माँ ने बताया, ''बेटा, निर्जन वन में तपस्या करने पर ही उनका साक्षात्कार होता है। चराचर विश्व ही उनका दर्शन स्वरूप है। वे वृषभवाहन, गौरवर्ण और प्रसन्नवदन हैं। उनका दर्शन करते ही तुम समझ जाओगे कि ये ही शंकर हैं, क्योंकि वे स्वप्रकाश हैं। सूर्य जैसे एक साथ ही स्वयं को तथा जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही वे भी स्वयं को भक्तों के समक्ष प्रकट करते हैं।''

यह सुनकर उपमन्यु ने तत्काल माता से अनुमति ली और उनकी चरण-वन्दना करके वन की ओर चल पड़े। निर्जन शान्त-रसमय शुद्ध जलयुक्त वनप्रान्त में बैठकर कठोर तपस्या करते हुए उन्होंने अनेक वर्ष बिता दिये। उनकी निष्ठा से सन्तुष्ट होकर देवाधिदेव ऐरावत पर आरूढ़ इन्द्र के रूप में उनकी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हुए और बोले, ''वत्स, मैं देवराज इन्द्र हूँ, तुम्हारी तपस्या से सन्तुष्ट होकर वर देने आया हूँ। अपनी इच्छानुसार वर माँग लो।'' इस पर उपमन्यु ने सविनय आदरपूर्वक कहा, ''हे देवराज, मैं शिव-दर्शन की

कामना से तपस्या कर रहा हूँ। शिव के अतिरिक्त अन्य किसी के भी समक्ष मैं वर की प्रार्थना नहीं करूँगा। आपको मेरा प्रणाम है। आप स्वर्ग लौट जायँ।

पशुपतिवचनात् भवामि सद्यः
कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपति-वरप्रसादजा मे
त्रिभुवनराज्य-विभूतिरप्यनिष्ठा ।।
अपि कीटपतंगे वा भवेयं शंकराज्ञया ।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ।।

– "भूतपति शंकर के आदेश से मैं अभी कीड़ा-मकोड़ा अथवा बहुशाख वृक्ष होने को प्रस्तुत हूँ, पर उनके अतिरिक्त अन्य किसी के वरप्रसाद से मैं त्रिभुवन का राज्य तथा ऐश्वर्य भी पाने की इच्छा नहीं करता । शंकर के आदेश पर मैं कीट-पतंग होने को भी तैयार हूँ; परन्तु हे इन्द्र, आपके द्वारा दिये जानेवाले त्रैलोक्य में भी मेरी रुचि नहीं है।"

भूतपति ने इस प्रकार परीक्षा करके जब उनकी अनन्य निष्ठायुक्त भक्ति जाँच ली, तब उन्होंने अपने विश्वमोहन रूप में दर्शन देकर उनकी इच्छानुसार वर प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपमन्यु को अमरत्व, चिरयौवन, सर्वज्ञता आदि भी देकर कृतार्थ किया।

इस आख्यायिका के द्वारा अनन्य भक्ति की महान् शक्ति की बात सहज ही हृदयंगम हो जाती है। इतिहास-पुराण आदि में ऐसी अनेकानेक घटनाएँ वर्णित हैं। निराकार सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी भगवान की उपासना के लिए जिस भक्ति की आवश्यकता होती है, उसे ज्ञानमिश्रा भक्ति कहते हैं । वे सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता हैं; उनका स्वरूप जानने के लिए जो तीव्र जिज्ञासा या अनुराग होता, वही ज्ञानमिश्रा भक्ति है। वेद आदि शास्त्र उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं और वे वेद आदि शास्त्रों द्वारा ही जाने जा सकते हैं। स्वाध्याय, तपस्या, शौच, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, सत्यनिष्ठा आदि के अभ्यास सहित उपासना-परायण होने पर कालक्रम से साधक का मोह दूर हो जाता है और वह भगवान का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

साकार उपासक की भक्ति अन्य प्रकार की होती है, जिसे शुद्धा भक्ति कहते हैं। यह शुद्धा भक्ति दो प्रकार की है – वैधी और रागानुगा। शास्त्रोक्त विधान के अनुसार विविध उपचारों द्वारा पूजा, जप, होम, ध्यान आदि के द्वारा जिस भक्ति का विकास होता है, वही वैधी है। यही वैधी भक्ति क्रमशः प्रगाढ़ अनुराग द्वारा प्रेरित होने पर रागानुगा कहलाती है। इस भक्ति का विकास होने पर उपास्य परमेश्वर का ऐश्वर्य-भाव पूर्णरूपेण तिरोहित हो जाता है और भगवान परम आत्मीय से लगते हैं। ऐसे भक्त उन्हें प्रभुभाव, पुत्रभाव, सखाभाव या पतिभाव से देखा करते हैं। इससे बढ़कर और कोई भक्ति नहीं है। इसकी चरम अवस्था को प्रेमा कहते हैं। इस अवस्था में भक्त का हृदय जब भी प्रेम द्वारा उद्भासित होता है, तभी वह अपने हृदय के आराध्य-देवता का साक्षात्कार प्राप्त करता है। यशोदा वात्सल्य-भाव की, हनुमान दास्य-भाव के, व्रजबाल सख्य-भाव के, और गोपबालाएँ मधुर-भाव की आदर्श हैं। इस प्रेमभक्ति के बल से वे ही सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी अखण्ड-सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान, विग्रह होकर, नररूप धारण करके, कभी पुत्ररूप में, कभी प्रभुरूप में, कभी सखारूप में, तो कभी पतिरूप में भक्त की अधीनता स्वीकार करते हैं। अनन्यता एवं प्रगाढ़ निष्ठा ही इसकी जीवनी-शक्ति है। भक्त-साधक यदि प्रेमभक्ति के अधिकारी होकर स्वयं को कृतकृत्य करना चाहते हों, तो उन्हें अपने मन की समस्त वृत्तियों का निरोध कर एकमात्र अपने हृदय के अधीश्वर में ही तन्मय हो जाना होगा। उनके अतिरिक्त अन्य किसी का भी रूप साधक को आकृष्ट न करे। प्रेमभक्ति की उपलब्धि का यही एकमात्र पथ है ।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि साधक यदि प्रगाढ़ अनुराग से युक्त हुए बिना इस भक्ति को पाने का प्रयास करते हैं, तो फिर उन्हें पूर्वोक्त दक्षिण के शैव तथा वैष्णवों के समान होना होगा। दुर्भाग्यवश अनेक वैष्णवों की ऐसी धारणा है कि दौड़ते हुए पागल हाथी के पावों-तले कुचले जाकर मर जाना अच्छा है, परन्तु समीप ही स्थित शिव-मन्दिर में आश्रय लेकर प्राण बचाना वैष्णवोचित कर्म नहीं है। जो प्रेमभक्ति भगवत्प्राप्ति का एकमात्र परम उत्कृष्ट द्वार है, उसके नाम पर असंख्य लोग अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न, ईर्ष्या-द्वेष-परायण होकर उत्पीड़न, अत्याचार, रक्तपात आदि बीभत्स तथा भयंकर रौद्ररसमय राक्षसी आचार का आश्रय ले रहे हैं। इस संकीर्ण दृष्टि के वशीभूत होकर कितनी ही मानव-सन्तानें पिशाच एवं हिंस्र पशु के समान आचरण करके इस दुखमय संसार को और भी दुखमय बना रही हैं।

अज्ञान के फलस्वरूप एक सम्प्रदाय के लोग अन्य सम्प्रदायों से घृणा करना और उनके अनुयाइयों पर अत्याचार करना, आदि को अपने धर्म का अंग मानते हैं। वर्तमान शताब्दी के लोग अनेक विषयों में अपने को पहले के लोगों की अपेक्षा उन्नत मानते हैं, परन्तु धर्म के नाम पर नरशोणित से धरित्रीवक्ष को कलंकित करना, जैसा पहले था, वैसे ही अब भी चल रहा है। अतः इन लोगों की कौन-सी विशेष उन्नति हुई, इसका निर्धारण करना कोई सहज काम नहीं है।

भगवान श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने के लिए मनुष्य को हिंस्र पशु के समान आचरण नहीं करना होगा। इन महापुरुष ने सभी धर्मों को भगवान के चरणों में ले जानेवाले भिन्न भिन्न पथों के रूप में उपलब्धि की है। सनातन धर्म का यथार्थ मर्म जानने की इच्छा रखनेवाले समस्त जिज्ञासुओं को गीता में कथित श्रीकृष्ण की निम्नलिखित वाणी को सदैव स्मरण रखना चाहिए –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ।। ४/११

– मनुष्य जिस प्रकार से भी मेरी आराधना करते हैं, मैं उसी प्रकार से उनकी कामनाएँ पूर्ण करता हूँ; हे पार्थ, सभी मनुष्य मेरे ही पथ पर चलते हैं।

इससे श्रीरामकृष्ण की उक्ति का महत्त्व समझ में आ जाता है। अब प्रश्न उठ सकता है कि यदि सभी धर्म सत्य हैं, तो फिर क्या किसी भी धर्म का आश्रय लेने से उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है? इसके उत्तर में वे महापुरुष श्रीकृष्ण के साथ एक स्वर में कहते हैं – "एकमात्र स्वधर्म का अनुष्ठान ही कर्तव्य है, उसी के द्वारा गन्तव्य तक पहुँचा जा सकता है।"

इसे सहज ही बोधगम्य करने के लिए वे कूप-खनन का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं – एक व्यक्ति कुँआ खोद रहा था। कुँआ लगभग दस हाथ गहरा हो चुका था, उसी समय किसी ने आकर कहा, "क्यों बेकार मेहनत कर रहे हो? यहाँ सौ हाथ खोदने पर भी पानी नहीं मिलेगा। आओ, मैं तुम्हें दूसरा स्थान दिखाता हूँ।" खोदनेवाले ने उसके बताये हुए स्थान पर जाकर कार्य आरम्भ किया, परन्तु कुँआ बीस हाथ गहरा हो जाने पर भी पानी का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ा। उसी समय एक अन्य व्यक्ति ने आकर कहा, "भाई, यहाँ पर खोदने की गलत सलाह तुम्हें किसने दी? सारे जीवन खोदते रहो, तो भी यहाँ पानी मिलने की कोई सम्भावना नहीं। आओ, मैं तुम्हें नया स्थान दिखाता हूँ। वहाँ तुम्हें थोड़ी मेहनत करने से ही सफलता मिलेगी।" तदनुसार निर्दिष्ट स्थान पर जाकर उसने पुन: खुदाई आरम्भ की। दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह बीतने लगे। कुँआ तीस हाथ गहरा हो चुका था, परन्तु जल का कहीं नामो-निशान नहीं! हताश होकर अपने भाग्य को बारम्बार धिक्कारते हुए उस व्यक्ति ने खोदने का कार्य ही छोड़ दिया। उसका सारा परिश्रम निष्फल हुआ, व्यर्थ गया। अब तक वह करीब साठ हाथ खोद चुका था; यदि वह सारी खुदाई एक ही जगह करता, तो नि:सन्देह उसका श्रम सफल होता ।

धर्मराज्य में प्रवेश करने का भी यही नियम है। एक ही धर्म या मत का आश्रय लेकर रहा जाय, तो समय पर उसी से अभीष्ट सिद्ध होगा। स्वधर्म का आश्रय लेना ही उत्तम है, क्योंकि वह स्वभावगत होने के कारण उसके द्वारा सहज ही अपनी उन्नति की जा सकती है। परन्तु स्वधर्म का पालन करते हुए दूसरे धर्मों के दोष निकालना अत्यन्त हीनबुद्धि का लक्षण है। क्षुद्रवृत्ति के लोग अहंकार एवं मोह से आच्छन्न होकर अपने सम्प्रदाय को छोड़ दूसरे सम्प्रदायों के भीतर कुछ भी अच्छा नहीं देख पाते। ऐसे संकीर्ण चित्त नरपशु ही दुनिया के सारे उत्पातों की जड़ हैं।

तो फिर सच्चा धर्मजिज्ञासु किस प्रकार का आचरण करेगा? इसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ससुराल में रहकर बहू जैसे अपनी सास, ससुर, देवर की भी सेवा तथा सम्मान करती है, परन्तु अपने पति के साथ ही उसका सम्बन्ध अति घनिष्ठ होता है; वैसे ही सच्चे धार्मिक व्यक्ति अन्य धर्म-समुदायों के प्रति भक्ति-श्रद्धा एवं सम्मान दिखाते है, परन्तु अपने धर्म के साथ उनका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है, वैसा सम्बन्ध उनका अन्य किसी भी धर्म के साथ नहीं हो सकता। ऐसा करने से ही उन्हें शुद्धा-भक्ति की प्राप्ति होगी और इसके द्वारा वे भगवान का साक्षात्कार पाकर धन्य हो जायेंगे।

गोविन्द के हृदय में स्वधर्म के प्रतिपालन द्वारा इस अनन्य नैष्ठिक भक्ति को विकसित कराने के लिए ही श्री रामानुज ने श्री शैलपूर्ण के द्वारा उनसे अपना वैष्णवधर्म पुन: ग्रहण कराया था। अत: यह स्पष्ट है कि रामानुज ने संकीर्ण दृष्टि के वशीभूत होकर यह कर्म नहीं किया था। गोविन्द को अपने निकट पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही। अल्प काल के भीतर ही उन्होंने अपने मित्र को भी शक्ति के अमृतमय सागर में निमज्जित कर दिया। प्रेमभक्ति से परिशुद्ध गोविन्द के हृदय में शीघ्र ही सर्वलोकों में सुन्दरतम श्रीमन्नारायण का दिव्य रूप प्रकट हुआ। वे अपने आपको कृतार्थ मानकर विशुद्ध आनन्द की पराकाष्ठा में आरूढ़ हुए।

इस प्रकार श्रीरंगम का मठ स्वर्गद्वार-स्वरूप हो गया और असंख्य सन्तप्त हृदयों में शान्तिवारि का सिंचन कर उन्हें देवदुर्लभ आनन्द के तरंगों से निमज्जित करने लगा। श्री रामानुज में जीवहित की कामना कैसी बलवती थी, यह बात परवर्ती घटना के पाठ से सहज ही समझ में आ जाती है।

❖ (क्रमश:) ❖

एक विद्यार्थी के नाम पत्र (३)

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

(पत्र के द्वारा एक व्यक्ति अपने विचार या सन्देश दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाता है। यहाँ एक पत्र दिया जा रहा है, जो एक विद्यार्थी को सम्बोधित करके लिखा गया था। यदि तुम ज्ञान तथा अध्ययन की पिपासा रखनेवाले एक सच्चे विद्यार्थी हो, तो यह पत्र तुम्हारे लिए अवश्य ही उपयोगी होगा। दिल्ली की श्रीमती निर्मल श्रीवास्तव ने, हमारे तरुण पाठकों के लिए इसका आंग्ल भाषा से हिन्दी रूपान्तरण किया है। – सं.)

(पिछले अंक का शेषांश)

परिशिष्ट – प्रश्नोत्तर

प्रश्न – (पिछले दो अंकों में प्रकाशित) पत्र में बताया गया कि किस प्रकार समय-तालिका के अनुसार हम अपने समय का सदुपयोग कर सकते है। पर पर्याप्त पढ़ाई कर लेने पर भी कुछ समय बच जाता है। उसका कैसे उपयोग करें?

उत्तर – यह बुद्धिमान छात्रों की ही समस्या है, क्योंकि ऐसे छात्र कम समय में ही ज्यादा पढ़ लेते है और जो कुछ पढ़ते है, उसे याद भी रख पाते हैं। ऐसे छात्रों को पाठ्यक्रम के अतिरिक्त अपनी पसन्द का कोई शौक चुन लेना चाहिए, यथा ड्राइंग, पेंटिंग, संगीत, नृत्य, हस्तशिल्प या साहित्य और उसे विकसित करना चाहिए। परन्तु जिन छात्रों को परीक्षा में पास होना कठिन लगता है या जो तृतीय श्रेणी में पास होते हैं, उनके लिए अपनी पढ़ाई पर ही ध्यान देना बेहतर होगा। इससे फेल होनेवाला छात्र तृतीय श्रेणी में पास हो सकता है, तृतीय श्रेणीवाला द्वितीय श्रेणी में और द्वितीय श्रेणीवाला प्रथम श्रेणी प्राप्त कर सकता है। यदि कोई प्रथम श्रेणी में पास हो जाय, तो उसे उच्च स्तर की महाविद्यालयीन शिक्षा सहज प्रतीत होगी। सामान्यत: जो लोग हाईस्कूल में तृतीय श्रेणी प्राप्त करते हैं, वे कॉलेज में प्राय: फेल ही होते हैं। इसके अपवाद हो सकते हैं, पर वे काफी कम हैं।

प्रश्न – यदि सामान्य छात्र सर्वदा पढ़ाई में ही व्यस्त रहें, तो फिर उन्हें कला-सम्बन्धी तथा अन्य प्रतिभाएँ विकसित करने का अवसर कैसे मिलेगा?

उत्तर – उन्हें अवसर अवश्य मिलेगा। उदाहरण कि वे दशहरे या गर्मी की छुट्टियों में यह सब कर सकते हैं।

प्रश्न – आपने दिन में दो बार सिर भिगाकर स्नान करने की सलाह दी है। लड़कियों के लिए प्रतिदिन सिर भिगाना और बालों को सुखाना बड़ा कष्टकर है।

उत्तर – चूँकि यह पत्र एक लड़के को सम्बोधित किया गया था, इसलिए ऐसी समस्या नहीं आयी। परन्तु बालिकाएँ अपने केश भिगाए बिना नहा सकती हैं। उनके लिए सप्ताह में एक बार ही सिर धोना यथेष्ट है। परन्तु बालों में प्रतिदिन तेल लगाना और कंघी करना आवश्यक है।

***　　***　　***

इस पत्र को पढ़ते समय और भी कई छोटे-मोटे प्रश्न खड़े हो सकते हैं। यथा – दूसरी जगह जाने पर और बीमारी की अवस्था में समय-तालिका का पालन नहीं हो सकता। ऐसे में पाठों के एकत्र हो जाने पर क्या किया जाय? ऐसी शंकाओं के उत्तर तुम्हें स्वयं ही ढूँढ़ने होंगे। जहाँ चाह, वहाँ राह। यदि पढ़ने की लगन पक्की है, तो ऐसी समस्याएँ पैदा ही नहीं होंगी। और यदि पैदा भी हो गयीं, तो तुम्हें स्वयं ही उन पर विचार करके उनके समाधान ढूँढ़ने होंगे।

विभिन्न छात्रों को विभिन्न परिस्थितियाँ में रहना पड़ता है –

१. जिनकी पढ़ाई में रुचि है, सम्भव है उन्हें इसके लिए सुविधाएँ न प्राप्त हों और जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनकी पढ़ाई मे रुचि न हो।

२. कुछ लोगों की पढ़ाई में रुचि भी होती है और उन्हें इसके लिए आवश्यक सुविधाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

३. कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें न तो पढ़ने में रुचि होती है और न इसके लिए सुविधाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

४. फिर कुछ ऐसे भी छात्र होते हैं, जिन्हें रुचि भी होती है और सुविधाएँ भी प्राप्त हैं, परन्तु बुद्धि की कमी होती है।

वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही ज्ञान प्राप्त करता है।

कहते हैं कि आजकल बिना परीक्षा पास किये ही योग्यता का प्रमाणपत्र खरीदा जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि योग्यता को खरीदा नहीं जा सकता।

कुछ छात्र परीक्षा की तैयारी तो अच्छी करते हैं, पर उत्तर गलत या बहुत साधारण लिख आते हैं। इसका क्या कारण है? वे भय तथा आतंक के कारण जल्दबाजी करते हैं, मानसिक उलझन के शिकार हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप उत्तर लिखने में गल्ती हो जाती है।

कुछ छात्र ऐसे भी होते हैं, जो ज्यादा पढ़ाई न करने के बावजूद अधिकांश प्रश्नों के सही उत्तर लिख आते हैं। उनमें भय का अभाव ही इसका कारण है और इसलिए उन्हें चिन्ता या हड़बड़ी भी नहीं होती, जिसके फलस्वरूप उन्होंने जो भी थोड़ा-बहुत पढ़ा है, उसका उन्हें क्रमश: स्मरण हो आता है।

इस प्रकार भय से स्मरण-शक्ति का ह्रास होता है, जबकि साहस से इसमें वृद्धि होती है।

प्रश्न – प्रतिदिन दो बार स्नान करना क्यों आवश्यक है? क्या यह व्यावहारिक भी है?

उत्तर – लगभग सात घंटे की नींद के बाद सुबह उठने पर भी व्यक्ति में उनींदापन बना रहता है। अगर इसके स्वयं ही जाने की प्रतीक्षा की जाय, तो काफी समय लेता है और इसके फलस्वरूप बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है। इस तन्द्रा के प्रभाव से कुछ लोग तो लेटकर दुबारा सो जाते हैं और कुछ लोग बैठे बैठे ऊँघते रहते हैं। ऐसी अवस्था में छात्रों की पढ़ाई कैसे हो सकती है? इसलिये यदि कोई अपने हाथ-मुँह धोकर योगासन या व्यायाम करता है और थोड़ी देर बाद स्नान कर लेता है, तो उसकी सारी तन्द्रा हवा हो जाती है और उसके शरीर मन तरो-ताजा होकर पढ़ाई के लिए तैयार हो जाते हैं।

दिन भर के क्रिया-कलापों के दौरान शरीर से निकले हुए पसीने के साथ धूल जमकर उसकी एक तह बन जाती है, जो शाम को नहाने से साफ हो जाती है। और फिर इसके बाद मन एक नये उत्साह तथा स्फूर्ति से भर उठता है।

नहाने में ज्यादा समय नष्ट करने की जरूरत नहीं। यदि व्यक्ति फुर्तीला हो, तो स्नान ५ या ६ मिनट में हो जाता है।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि त्वचा का स्वस्थ रहना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि पेट का। यदि पूरे शरीर में खुजली होती रहे, तो क्या पढ़ाई में मन लगना सम्भव है?

प्रश्न – आपने सोमशेखर को कक्षा में अगली बेंच पर बैठने का सुझाव दिया था। यदि इस पत्र को पढ़नेवाले सभी छात्र अगली ही बेंच पर एकत्र हो जायँ तो?

उत्तर – क्या यह देखने में नहीं आता कि पिछली बेंचों पर पर बैठनेवाले छात्र प्रायः किसी-न-किसी शरारत में व्यस्त रहकर शोर मचाया करते हैं? इसी कारण यह सुझाव दिया गया था, ताकि सच्चे विद्यार्थी इन झंझटों से दूर रहें। यदि सभी छात्र इस पत्र को पढ़ते हैं और इस सलाह पर ध्यान देते हैं, तो सब-के-सब कक्षा में अनुशासन बरतेंगे। तब फिर कोई कहीं भी बैठे, कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा।

इसके अलावा सोमशेखर को दिये गये एक अन्य सुझाव पर भी ध्यान देना आवश्यक है – "अपनी कान तथा नेत्र अध्यापक पर स्थिर रखो और उनकी बातों को ध्यान से सुनो।" वस्तुतः यदि कक्षा का प्रत्येक विद्यार्थी इस सलाह पर चले, तो निःसन्देह इसका बड़ा अद्भुत परिणाम होगा – पूरी कक्षा शान्त और अनुशासित हो जायेगी। कक्षा के कुल पचास-साठ छात्रों का पूरा ध्यान शिक्षक पर केन्द्रित होगा। यदि शिक्षक ने भी अच्छी तैयारी की है, तो पढ़ाई अत्यन्त सफल तथा प्रभावी होगी। परन्तु यदि शिक्षक की ही तैयारी में कमी होगी, तो वे अवश्य तनावग्रस्त हो जायेंगे और कक्षा की शान्ति को देखकर उसके पसीने छूट जायेंगे। और वे अगली कक्षा के लिए अवश्य ही भलीभाँति तैयारी करके आयेंगे।

प्रश्न – जो छात्र योगासन नहीं जानते, उन लोगों को क्या करना चाहिए?

उत्तर – वे ऐसे लोगों को ढूँढ़ें, जो इसे जानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन प्रातःकाल टी.वी. पर व्यायाम तथा योगासन सिखाये जाते हैं। (टी.वी. पर ऐसे कार्यक्रम देखने से हमें कोई आपत्ति नहीं है) फिर विवेकानन्द केन्द्र, राष्ट्रोत्थान परिषद् तथा ऐसी ही कई संस्थाएँ पूरे देश में योग-शिविर लगा रही हैं, जिनके बारे में हम सभी जानते हैं। ऐसे केन्द्रों में प्रशिक्षित लोग भी सर्वत्र फैले हुए हैं। उनसे भी मदद ली जा सकती है।

प्रश्न – निःसन्देह इस पत्र में बहुत-से उपयोगी सुझाव हैं, पर इनका ईमानदारी से पालन कौन करेगा?

उत्तर – जिनमें इन सुझावों का पालन करने की क्षमता है, वे लोग अवश्य ही इन सबको अपनायेंगे। कुछ अन्य लोग इसे आंशिक रूप से लेंगे। कुछ अन्य छात्रों के माता-पिता इन नियमों का बलपूर्वक पालन करा सकते हैं।

भगवद्गीता जैसे धर्मग्रन्थों में व्यक्ति के आचरण के विषय में बहुत कुछ कहा गया है, परन्तु हममें से कितने उन उपदेशों के अनुसार चलते हैं? – शायद मुट्ठी भर लोग ही। यही बात इस पुस्तिका पर भी लागू होती है।

प्रश्न – एकाग्रता का कैसे विकास किया जा सकता है?

उत्तर – छात्र तथा साधक प्रायः ही यह प्रश्न करते रहते हैं। 'एकाग्रता' में एक तथा अग्रता – ये दो शब्द हैं। 'एक' का अर्थ है एक और 'अग्र' का अर्थ है नोंक। इस प्रकार एकाग्रता का अर्थ हुआ एक बिन्दु पर केन्द्रित होना – अपने सारे साधनों को एक स्थान पर एकत्र करना। मन की एकाग्रता का अर्थ है – बिखरी हुई समस्त मानसिक शक्तियों को इकट्ठा करके उन्हें एक लक्ष्य की ओर प्रवाहित करना। यदि तुम पूछो कि क्या हमारा मन स्वाभाविक रूप से एकाग्र नहीं है? तो उत्तर होगा – नहीं; क्योंकि मन स्वभाव से ही चंचल है।

इसके साथ ही कान, नेत्र, नाक, जिह्वा तथा त्वचा – ये पाँच इन्द्रियाँ भी मन को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करती रहती हैं। इनका आकर्षण अत्यन्त तीव्र होने के कारण मन निरन्तर इन्हीं की ओर दौड़ता रहता है।

इसके अलावा मन की अपनी भी इच्छाएँ, सनकें तथा तरंगें रहती हैं। ये भी मन को बाहर की ओर खींच लाने की क्षमता रखती हैं। इच्छाओं के सहयोग से इन्द्रियाँ मन को तब तक नचाती रहती हैं, जब तक कि वह एक चंचल बन्दर के समान उद्विग्न नहीं हो जाता। ऐसे मन से क्या हम एकाग्र होने की अपेक्षा कर सकते हैं?

तो फिर मन को कैसे सन्तुलित रखा जा सकता है? सभी दिशाओं में बिखर रही मन की सारी शक्तियों को कैसे एक दिशा में प्रवाहित किया जाय? इसका समाधान है – मन को अनुशासित करना। अब दूसरा प्रश्न उठता है कि कैसे इसे अनुशासित किया जाय? मन को एक समय में एक ही विषय में लगाते हुए उससे कहना होगा – "ओ मन, इस समय मुझे यह पाठ पढ़ना और समझना है, अत: अन्य बातों से परेशान न करके इस पाठ को आत्मसात् करने मेरी मदद करो।" यदि मन तुम्हारे इस सौम्य अनुरोध को न माने, तो तुम्हें कठोर होकर उसे कह देना होगा, "मन, तू मेरा सेवक है, तुझे मेरे आदेश का पालन करना होगा।"

इन सबके साथ-ही-साथ एक अनुशासित जीवन बिताना भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अनुशासित जीवन का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि सुबह से शाम तक के सभी आवश्यक कार्यों को सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न करना।

बुरे विचारों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। और व्यर्थ की बातों तथा निरर्थक कार्यों में समय नहीं गँवाना चाहिए। इन सावधानियों के बावजूद कुछ गल्तियाँ हो सकती हैं। तब मन को डाँटते हुए उससे दुबारा ऐसी गल्ती न करने की सलाह देनी चाहिए। यदि इस पर भी गल्तियाँ हों, तो मन को फिर समझाओ। इस तरह संघर्ष करते हुए हमें अपने कार्यों को व्यवस्थित कर लेना होगा। जब एक दिनचर्या स्थिर हो जाती है, तो मन काफी हद तक शान्त हो जाता है। ऐसा मन आज्ञाकारी होता है और सहयोग भी करता है।

जैसा कि हम कह आये हैं – इन्द्रियाँ मन को हर प्रकार से भ्रमित करती रहती हैं। इसलिए उन पर भी निगाह रखनी होगी। उनकी माँगों के पीछे कोई तर्क या कारण नहीं होता। उनसे जुड़े होने के कारण यदि हम उन्हें मनमानी करने दें, तो उनके साथ निरन्तर जुड़ा रहनेवाला मन पुन: अपना सन्तुलन खो बैठेगा। जो लोग अपने मन पर नियंत्रण रखना चाहते हैं, उन्हें मूर्खतापूर्वक अपनी इन्द्रियों को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

शायद पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से, बदलते हुए समय के अनुसार अधिकाधिक छात्र अपनी इन्द्रियों को खुला छोड़ देते हैं। किशोरों का यह युक्तिसंगत-सा तर्क है – "यदि तरुणाई में नहीं, तो क्या वृद्धावस्था में मौज उड़ाएँगे? उस समय तो आदमी जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक होता है।" जब वे मुस्कुराते हुए ऐसा कहते हैं, तो बड़े लोग प्राय: उन्हें समझाकर सुधारने का प्रयास नहीं करते। अनेक युवकों को बलपूर्वक ऐसी घोषणा करते सुनकर शायद बड़ों को भी यह विश्वास होने लगा है – हाँ, ये ठीक ही तो कहते हैं!

बड़े लोग भले ही उदासीन रहें, पर बुराई के प्रभाव को रोका नहीं जा सकेगा। यदि शरीर, मन तथा इन्द्रियों के स्वभाव तथा कार्य को समझे बिना ही मनमौजीपने से उनका उपयोग किया गया, तो इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा और वे हमारी शान्ति, समृद्धि तथा सन्तोष को नष्ट करके हमें अत्यन्त दयनीय स्थिति में पहुँचा देंगी। तब हमारे करने लायक कुछ भी नहीं बचेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनियंत्रित इन्द्रियाँ मन की एकाग्रता को नष्ट कर देती हैं और इस कटु सत्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय, उतना ही अच्छा है।

अध्ययन में एकाग्रता को बढ़ाने के लिए विषय को पढ़ने के बाद आगे बढ़ने के पूर्व उसे स्पष्ट रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा पहले कहा गया है कि वाक्य के कठिन शब्दों का अर्थ शब्दकोष से जान लेना चाहिए। उनके अर्थ तथा पूरे वाक्य के भावार्थ पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार हर पैराग्राफ को पढ़ना और समझना होगा। अब पैराग्राफे के विषय, उसके तात्पर्य पर विचार किया जाना चाहिए। इस पद्धति से विषय स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। विषय समझ में आने से आनन्द होता है, आनन्द से हमें पढ़ने में रुचि आती है और रुचि के कारण एकाग्रता आती है।

जिसमें हमारा प्रेम होता है, उसी में हमारा मन भी लगता है। अत: जो विषय हमारे मन में बना रहता है, उसी में हमारी एकाग्रता भी विकसित होती है – यह एक ठोस नियम है।

परन्तु कुछ विद्यार्थी कहते हैं, "मुझे अपने पाठ्यक्रम के विषय पसन्द नहीं है। मैं क्या करूँ?" ऐसे छात्रों को चाहिए कि या तो अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनें अथवा अपने चुने हुए विषयों में रुचि पैदा करें।

एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है – मन की एकाग्रता दृढ़ निश्चय तथा अभ्यास का परिणाम है। बारम्बार प्रयास करने को 'अभ्यास' कहते हैं। लिखने के निरन्तर अभ्यास से लिखावट सुन्दर होती है, पढ़ने का अभ्यास पढ़ाई में सफल बनाता है। एक सैनिक को लक्ष्य पर गोली चलाने के लिये काफी अभ्यास करना पड़ता है; वैसे ही एक गृहिणी को अच्छा खाना बनाने के लिए काफी अभ्यास होना चाहिए। "अभ्यास आदमी को पूर्ण बनाता है" – यह कहावत सही है, पर अभ्यास बुद्धिमत्ता एवं ईमानदारी और विश्वास तथा उत्साह के साथ करना होगा। ऐसे अभ्यास से पढ़ाई में एकाग्रता भला कैसे नहीं होगी?

❖ (समाप्त) ❖

आध्यात्मिक स्पृहा

स्वामी भजनानन्द

(विवेक, वैराग्य तथा आध्यात्मिक स्पृहा – ये किसी भी प्रकार की साधना में आधारशिला का कार्य करती हैं। वेदान्त में तो इन्हें साधन-चतुष्टय के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उप-महासचिव स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने 'प्रबुद्ध-भारत' मासिक के सह-सम्पादक के रूप में इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर तीन लेख लिखे थे, जो उसी पत्रिका में क्रमशः उसके अगस्त, सितम्बर तथा अक्तूबर १९७९ के अंकों में सम्पादकीय प्रबन्धों के रूप में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की सर्वांगीणता, गहनता तथा उपयोगिता को देखते हुए, उनका अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में भी मुद्रित किया जा रहा है। - सं.)

आध्यात्मिक स्पृहा का स्वरूप – साधना की प्रेरणा-शक्ति क्या है? जीवात्मा को कौन ईश्वर की ओर प्रेरित करता है? ऐसी कौन-सी शक्ति है, जो जीवात्मा के क्रमिक विकास को वेग प्रदान करती है? आध्यात्मिक स्पृहा – जो जीवात्मा के विकास, विस्तार तथा बन्धनों से मुक्ति के लिए अन्तर्निहित तथा उद्देश्यमूलक प्रवृत्ति है। भक्ति की भाषा में यह परमात्मा के लिए जीवात्मा की व्याकुलता है। दोनों ही अर्थों में स्पृहा एक ऐसी सुस्पष्ट उच्च प्रेरणाशक्ति है, एक ऐसी अनिर्वाप्य आन्तरिक अग्नि है, जो पहले तो साधक के जीवन को उत्साहित करती है और फिर उसके पूरे जीवन को आलोकित कर देती है। जैसे शरीर अन्न के लिए क्षुधित होता है, मन ज्ञान की पिपासा का अनुभव करता है, वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा तथा मुक्ति के लिए आकुल होती है।

हर व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब उसके मन की गहन कन्दरा में दीर्घ काल से निद्रामग्न उसकी जीवात्मा दिव्य उद्‌बोधक की पुकार सुनकर जाग उठती है। बाह्य जगत् का शोरगुल तथा इन्द्रियों की हलचल भी इस स्पष्ट पुकार को दबा पाने में सक्षम नहीं है। जब यह पुकार स्पष्ट रूप से आती और प्रतिध्वनित होती है, तब जीव इसे सुनने को विवश होता है। तब वह अज्ञान तथा पुरानी आदतों की दीवारें तोड़कर मुक्ति के लिये संघर्ष करता है। यह अभिलाषा व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत का एकमात्र संकेत है।

यहाँ तक कि सामान्य जागतिक जीवन में भी हम देखते हैं कि कामनाएँ ही हमारे दैनिक क्रिया-कलापों को प्रेरित तथा संचालित करती रहती हैं। हम भूखे तथा खाने के इच्छुक होने के कारण ही भोजन करते हैं। उत्सुकता और ज्ञान की इच्छा के कारण ही हम अध्ययन करते हैं। कामनाएँ सर्वदा हमारे क्रिया-कलापों के आगे आगे चलती हैं। अरस्तू की रचनाओं में इस सत्य को दार्शनिक मान्यता भी प्राप्त हुई है। अपनी निकोमैकियन नीतिशास्त्र में वे अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हमारे क्रिया-कलापों का लक्ष्य तथा उद्देश्य सर्वदा हमारी कामनाओं द्वारा निर्धारित होता है और युक्ति की क्रिया केवल साधन तय करती है, साध्य नहीं। 'विचार अपने आप कुछ करने में सक्षम नहीं है' – अरस्तू की इस धारणा को १८वीं सदी के स्काटिश दार्शनिक ह्यूम ने और भी दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। उनके मतानुसार – 'युक्ति केवल कामनाओं का ही दास है और होना भी चाहिए'। ह्यूम के इस वक्तव्य से सभी लोग सहमत नहीं हो सकते कि 'युक्ति पूर्णतः निष्क्रिय है'; पर कोई इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकता कि आशा-आकाक्षा तथा इच्छाएँ हमारे दैनन्दिन जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। क्योंकि हर उद्यम के लिए हमें प्रेरणा की जरूरत पड़ती है। अतिरिक्त आय की आशा न हो, तो एक मजदूर भी अतिरिक्त कार्य नहीं करता। यदि कोई छात्र इजीनियर बनना चाहता है, तो उसे कानून का अध्ययन करने के लिए सहमत करा पाना अत्यन्त कठिन है।

मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक आवश्यकताओं का एक तारतम्य होता है और तदनुसार उसकी असंख्य कामनाएँ होती हैं। परन्तु हर मनुष्य की एक केन्द्रीय या प्रमुख कामना या आवश्यकता होती है, जो उसके स्वभाव तथा उसके विकास के स्तर पर निर्भर करती है। उसके जीवन में छाई हुई उस आवश्यकता या कामना के द्वारा ही उसके जीवन की दिशा निर्धारित होती है। जब उसकी क्रियाएँ उस प्रमुख इच्छा की अभिव्यक्ति बन जाती हैं, तभी वह उनमें सन्तोष का अनुभव कर सकता है। केवल तभी उसका जीवन रचनात्मक तथा सन्तुलित हो पाता है। और जब इस प्रमुख इच्छा को अभिव्यक्ति नहीं मिलती, तो वह संघर्ष की सृष्टि करती है। परन्तु जब किसी व्यक्ति की प्रमुख इच्छा अस्पष्ट या अनाविष्कृत रह जाती है, तो वह जीवन में उत्साह खो बैठता है और जीवन उसे अर्थहीन प्रतीत होने लगता है।

जिस आध्यात्मिक जीवन पर हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें तो यह और भी अधिक सत्य है। आम तौर पर धार्मिक होने का जो अर्थ प्रचलित है, उसके लिए एक सामान्य नैतिक जीवन बिताना, कुछ विशिष्ट अनुष्ठानों तथा प्रथाओं का पालन और धर्मग्रन्थों का पाठ करना ही पर्याप्त है। पर यदि विविध कामनाओं तथा उद्यमों से परिपूर्ण उस व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक अभिलाषा एक नगण्य भूमिका ही निभाती है, तो उसने अभी अध्यात्म के पथ पर पाँव ही नहीं रखे हैं। सच्चा आध्यात्मिक जीवन तभी प्रारम्भ होता है, जब तीव्र आकाक्षा

व्यक्ति के जीवन को अभिभूत कर लेती है और अन्य सभी इच्छाएँ तथा कामनाएँ उसी के अधीन हो जाती हैं।

आध्यात्मिक स्पृहा का अर्थ केवल सदिच्छा या एक भला मनोभाव नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में आकांक्षा का तात्पर्य है – अन्तरात्मा की तीव्र बुभुक्षा। इस सजीव कामना – ईश्वर-दर्शन के लिए तीव्र अभिलाषा या विकलता को ही श्रीरामकृष्ण 'व्याकुलता' कहते हैं। वे इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं, "यह वैसे ही है, जैसे घर में कोई बीमार होने पर मन सदा चिन्तित रहता है और यदि किसी की नौकरी छूट जाती है, तो वह जिस प्रकार आफिस आफिस में घूमता रहता है, व्याकुल होता रहता है। यदि किसी आफिस में उसे जबाब मिलता है कि कोई काम नहीं है, तो दूसरे दिन फिर आकर पूछता है, 'क्या आज कोई जगह खाली हुई?' "[१]

शकराचार्य तथा अद्वैत के अन्य सभी आचार्यों ने 'मुमुक्षुत्व' को ज्ञानमार्ग के चार मूलभूत साधनों में से एक माना है। जैसे किसी के बालों में आग लग जाने पर वह उद्विग्न होकर तालाब की ओर दौड़ता है, वैसे ही शिष्य को भी गुरु के पास दौड़ने की सलाह दी गयी है।[२] परन्तु मुमुक्षुत्व अभिलाषा का नकारात्मक पक्ष है। इसके बाद ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा रूप 'जिज्ञासा' या 'विविदिषा' नामक सकारात्मक पक्ष भी आना चाहिए। जो लोग इन दो प्रकार की आकांक्षाओं के बिना ही अद्वैत के पथ पर चलने का प्रयास करते हैं, उन्हें केवल किताबी ज्ञान से ही सन्तुष्ट रहना होगा।

<u>स्पृहा का महत्त्व</u> – किसी भी महात्मा या सन्त के जीवन पर दृष्टिपात करने पर एक बात हम उनमें निश्चित रूप से पाते हैं और वह यह कि उसका मूल सुर एकनिष्ठ तीव्र आकाक्षा है। यही चीज साधक को अन्य लोगों से पृथक् करती है। आध्यात्मिक उपलब्धि के पहले सच्ची व्याकुलता आती है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "अरुणोदय होने पर पूर्व दिशा लाल हो जाती है, तब समझा जाता है कि सूर्योदय में अब अधिक देरी नहीं है। वैसे ही यदि किसी के प्राण ईश्वर के लिए व्याकुल देखे जायँ, तो भलीभाँति समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति का ईश्वर-प्राप्ति में अधिक विलम्ब नहीं है।"[३]

विभिन्न साधकों के बीच का भेद काफी-कुछ उनके मन में निहित इस व्याकुलता की मात्रा से निर्धारित होता है। व्याकुलता जितनी तीव्र होगी, आध्यात्मिक प्रगति भी उतनी ही तेजी से होगी। पतंजलि योगियों को – मृदु, मध्यम तथा अधिमात्र – तीन वर्गों में बाँटते हैं और बताते हैं कि जिनमें तीव्र संवेग (आकुलता) है, उनके लिए लक्ष्यप्राप्ति काफी निकट है।[४] उपनिषद् कहते हैं कि आत्मा उन्हीं को प्राप्त होता है, जो उसकी अभिलाषा करते हैं।[५] ईसा भी आश्वासन देते हैं – 'खोजो, और तुम उसे पा लोगे।' यहाँ खोजने का अर्थ व्याकुलता के द्वारा खोजना है। इस ईश्वराकांक्षा के पखों पर सवार होकर ही 'एकाकी की एकाकी में उड़ान' होती है।

श्रीरामकृष्ण के मतानुसार एकमात्र इस व्याकुलता का ही साधना में महत्त्व है; यदि तीव्र व्याकुलता हो, तो किसी भी पथ से सफलता निश्चित है। वे कहते थे, "यह व्याकुलता ही सब कुछ है। किसी भी पथ से क्यों न जाओ – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, ब्राह्म – किसी पथ से जाओ, यह व्याकुलता ही असली बात है। वे तो अन्तर्यामी हैं, यदि भूल पथ में भी चले गये हो, तो भी दोष नहीं है – पर व्याकुलता रहे। वे ही फिर ठीक पथ में उठा लेते हैं।"[६]

श्रीरामकृष्ण के अपने स्वयं के अनुभव पर आधारित उपरोक्त वाणी से एक योग या मार्ग का दूसरों से श्रेष्ठ होने सम्बन्धी समस्त विवादों का अन्त हो जाना चाहिए। एक रोबोट की तरह कार्य करना ही यथेष्ट नहीं है। यहाँ तक कि एक कर्मयोगी में भी तीव्र मुमुक्षा या ईश्वर के लिये व्याकुलता अवश्य होनी चाहिए। नहीं तो, उसके सत्कार्य उसके लिये केवल कुछ पुण्य या हिन्दू धर्मग्रन्थों में वर्णित किसी स्वर्ग का ही अर्जन कर सकेंगे। किन्तु यदि वह अपने हृदय में प्रज्वलित तीव्र आकाक्षा के साथ कर्म सम्पादित करता है, यदि अपने विविध कर्तव्यों के बीच उसका हृदय ईश्वर के लिए वैसे ही तड़पता है जैसे कि फँसी हुई मछली जल के लिए, तब वह उस व्यक्ति की तुलना में अधिक शीघ्रतापूर्वक आध्यात्मिक उन्नति करेगा, जो सारे समय तोते की भाँति केवल मंत्रजप करता रहता है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता के बिना ही जप या ध्यान करता है, तो ये सब एक प्रकार के कर्म बन जाते हैं और वह व्यक्ति किसी भी दृष्टि से शारीरिक श्रम करनेवाले वाले एक मजदूर से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। आत्मा से जुड़ाव ही कर्म, जप तथा ध्यान को साधना में

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. २७
२. दीप्तशिरा जलराशिमिव। वेदान्तसार, १.३०
३. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. ७९३
४. पतंजलिकृत योगसूत्र, १.२२, २१। विभिन्न टीकाकारों ने 'संवेग' शब्द की अलग अलग प्रकार से व्याख्या की है। हरिहरानन्द अरण्य ने उपरोक्त सूत्र की अपनी बँगला टीका में लिखा है, "जैसे एक जंगल से होकर गुजरता हुआ एक यात्री संध्या हो जाने पर चिन्तित हो जाता है और अपनी चाल तेज कर देता है, वैसे ही योगी भी इस क्षणभंगुर जीवन को पार कर लेने को आकुल हो जाते हैं। यह आकुलता ही संवेग है।"
५. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कठोपनिषद्, १.२.३, मुण्डक, ३,२,३
६. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. ७९१

परिणत करते हैं। अपने शरीर तथा मन से कुछ भी करना कर्म मात्र है, जो जीवन की अचेतन धारा की गति का एक अंश है। इसे साधना में परिणत करने के लिए जीवात्मा को आगे बढ़कर इसे अपने अधिकार में कर लेना होगा। ईश्वर के लिए व्याकुलता ही आत्मा के प्राकट्य का एकमात्र लक्षण है। सच्ची व्याकुलता ही हमारें अन्दर आध्यात्मीकरण की शक्ति के जागरण का एकमात्र चिह्न है। जब सामाजिक सेवा या ध्यान को इस व्याकुलता से जोड़ा जाता है, तभी वह एक योग या एक आध्यात्मिक साधना बन जाती है।

स्पृहा के कार्य आध्यात्मिक जीवन में स्पृहा की क्या भूमिका है? यह स्पृहा किस प्रकार मन पर सक्रिय होकर हमारी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होती है?

सर्वप्रथम तो आध्यात्मिक स्पृहा साधना को प्रेरणा-शक्ति जुटाती है। अभी कुछ वर्षो पूर्व तक पुरानी कारों का चीखते हुए बीच सड़क पर जवाब दे जाना एक आम बात थी। तब इसके सवारों को बाहर आकर उसे धक्के लगाने पड़ते थे। तब कार आशा जगाती हुई भरभराकर स्टार्ट हो जाती, पर थोड़ी दूर जाकर ही फिर रुक जाती। सच्ची स्पृहा के बिना साधना करने पर भी ठीक ऐसा ही होता है। आध्यात्मिक जीवन में केवल धक्के लगाना ही पर्याप्त नहीं, उसमें 'खिंचाव' भी होना चाहिए। ईश्वर के लिए व्याकुलता देह-मन की स्वाभाविक जड़ता पर विजय प्राप्त करती है और जीवात्मा को ईश्वर की ओर उन्मुख करती है। तीव्र स्पृहा एक शक्तिशाली इजन के समान है, जो एक लम्बी ट्रेन को खींच ले जाता है।

द्वितीयतः आध्यात्मिक स्पृहा मानसिक शक्तियों को उच्चतर दिशा प्रदान करती है। सामान्यतः हमारा अधिकाश जीवन अचेतन अवस्था में ही बीतता है। हमारे कार्य तथा विचार स्वचालित यत्र की भाँति सहज प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होकर यांत्रिक तथा आवृत्तिमय हो जाते हैं। वस्तुतः अचेतन के विशाल सागर में प्रत्येक व्यक्ति एक छोटा-सा भँवर मात्र है। जब कोई ध्यान करने का प्रयास करता है, तो ध्यान स्वय ही इस भँवर का एक अंश बन जाता है। और यह भी सम्भव नहीं है कि व्यक्ति अपने विचारों का जड़ द्रष्टा बना रहे और आधुनिक धर्मशिक्षकों द्वारा सुझाए गये 'Choiceless awareness' (चयनरहित बोध) का अभ्यास करे, क्योंकि यह तथाकथित द्रष्टा भी उस भँवर का ही अंश है। तीव्र स्पृहा ही इस भँवर को तोड़कर जीवात्मा को अचेतन के प्रवाह से ऊपर उठाती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "ईश्वरोपासना, साधु महापुरुषों की पूजा, एकाग्रता, ध्यान और निष्काम कर्म – ये मायाजाल को काटकर निकलने के उपाय हैं; पर पहले हमारे भीतर तीव्र मुमुक्षुत्व होना चाहिए।"[७]

आध्यात्मिक स्पृहा का तीसरा कार्य यह है कि यह अनासक्ति के अभ्यास को सरल बनाती है। हमने पहले ही देखा[८] कि अनासक्ति का वास्तविक अर्थ इच्छा से अलगाव है। इसे प्राप्त करने का एक उपाय है – विवेक की सहायता से इसका बारम्बार अभ्यास करना। इससे भी काफी सरल उपाय है ईश्वर के लिए तीव्र व्याकुलता। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते है – जब कोई व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर चलता है, तो वह स्वाभाविक रूप से पश्चिम दिशा से दूर होता जाता है। वैसे ही जब जीवात्मा तीव्र व्याकुलता के द्वारा ईश्वर की ओर बढ़ती है, तो उसकी सारी आसक्तियाँ स्वय ही छूट जाती हैं।

इस स्पृहा का एक अन्य कार्य है बिखरी हुई इच्छा का एकत्रीकरण। जीवन का एक केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए; केवल तभी ऊर्जा का सरक्षण और उसका रचनात्मक उद्देश्यों के लिए उपयोग सम्भव है। यदि किसी व्यक्ति के कार्य, अध्ययन, सामाजिक सम्पर्क तथा साधना के बीच आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होगा, तो वह किसी भी क्षेत्र में रचनात्मक उत्कृष्टता की उपलब्धि नहीं कर सकता। आध्यात्मिक जीवन का सम्बन्ध पूरे व्यक्तित्व से है और यदि इसका ठीक ठीक सामंजस्य नहीं किया गया, तो व्यक्ति तीव्र आध्यात्मिक प्रयास नहीं कर सकता। आध्यात्मिक स्पृहा ही जीवन की शक्तियों को एक सामान्य केन्द्र-बिन्दु पर एकत्र करती है और व्यक्तित्व के सामजस्य को सम्पादित करती है।

तीव्र आकाक्षा का एक कार्य यह भी है कि यह समय को घटा देता है। आध्यात्मिक जीवन में ध्यान तथा जप में लगाये गये समय का नहीं, बल्कि जिस तीव्रता के साथ उनका अभ्यास किया जाता है, उसी का महत्त्व है। यह आकाक्षा जितनी ही तीव्र होगी, उन्नति भी उतनी ही शीघ्र होगी। स्वामी अभेदानन्द ने एक बार कहा था कि इसी जीवन में वे दस जन्मों के अनुभवों से होकर गुजरे थे।

एक दिन श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में भक्तों के बीच बैठे भावसमाधि में डूब गये। उनमें महान् गृही भक्त बलराम बसु के पिता भी थे। उस समय का वर्णन 'म' ने इन शब्दों में लिपिबद्ध किया है – "अब प्रकृतिस्थ हुए हैं और कह रहे हैं, 'तुम बलराम के पिता हो?' सभी थोड़ी देर मौन बैठे हैं, बलराम के वृद्ध पिता चुपचाप हरिनाम की माला जप रहे हैं। श्रीरामकृष्ण ('म' आदि भक्तों के प्रति), 'अच्छा, ये लोग इतना जप करते हैं, इतना तीर्थ करते हैं, तो भी इनकी

७. विवेकानन्द साहित्य, भाग ७, पृ. १०८

८. देखिए पिछले अंक में प्रकाशित 'अनासक्ति' विषयक लेख

प्रगति क्यों नहीं होती? मानो अठारह मास का इनका एक वर्ष होता है। ... (इन्हें) कुछ क्यों नहीं होता? (इसलिए कि) व्याकुलता नहीं है।''[९]

अन्ततः आध्यात्मिक स्पृहा एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करती है, यह कुण्डलिनी को जगा देती है। माँ श्रीसारदा देवी ने बताया है कि जप-ध्यान केवल बाधाओं को दूर कर सकते हैं, पर तीव्र व्याकुलता ही सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को जगाती है।[१०] एक सिद्ध पुरुष का कहना है, ''यह (समाधि) अवस्था केवल पुस्तकें पढ़ने से प्राप्त नहीं होती। मुक्ति के लिए बड़ी अधीरता एव तीव्र व्याकुलता के साथ ईश्वर से प्रार्थना करनी होगी, क्योंकि इस अधीरता के द्वारा ही कुण्डलिनी का प्रथम जागरण होता है। कृत्रिम रूप से उठायी गयी भावुकतापूर्ण लहर से नहीं, अपितु सुनियोजित नैतिक शुद्धता, प्रार्थना, ध्यान तथा अन्य साधनाओं के द्वारा ही इस अधीरता, सच्ची आत्मिक भूख, इस व्याकुलता में तीव्रता लानी होगी।''[११]

<u>सच्ची स्पृहा की कसौटियाँ</u> – मानव मन इतना जटिल है और इतने प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित होता है कि एक व्यक्ति के लिये यह जान पाना बड़ा कठिन है कि उसकी वास्तविक रुचि किसमें है? यदि उसे आध्यात्मिक आकाक्षा का बोध होता है, तो वह यह कैसे सुनिश्चित करे कि यह सच्ची है या नहीं? क्योंकि कष्ट तथा हताशाएँ प्रायः छद्म आध्यात्मिक स्पृहा उत्पन्न कर देती हैं। या फिर यह किसी की सलाह या उदाहरण से भी प्रेरित हो सकती है। अतः प्रश्न उठता है कि सच्ची आध्यात्मिक आकाक्षा के क्या लक्षण है?

एक बार एक भक्त ने श्री सारदादेवी से पूछा – ''ईश्वर के प्रेम की अभिव्यक्ति को देखे बिना ही कोई कैसे उनके लिये व्याकुल हो सकता है?'' माताजी ने उत्तर दिया, ''हाँ, तुम ऐसा कर सकते हो। इसी में ईश्वर की कृपा निहित है।''[१२] उनका कहने का तात्पर्य यह था कि आध्यात्मिक स्पृहा व्यक्ति के हृदय की गहराइयों में सहज भाव से उत्पन्न होती है। यह दैवी कृपा की वह छोटी-सी चिनगारी है, जो आत्मा को प्रज्वलित करके व्याकुलता आरम्भ कर देती है। सच्ची स्पृहा बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती। यह आत्मा की वह गति है, जो स्वतः आरम्भ होती है और स्वतः चलती रहती है। इसे सिखाया नहीं जा सकता। श्रीरामकृष्ण के एक महान् शिष्य स्वामी शिवानन्द कहते हैं, ''व्याकुलता कोई किसी को नहीं सिखा सकता। वह अपने आप ही समय पर आ जाती है। प्राणों में अभाव का जितना अधिक बोध होगा, हृदय में उतनी ही व्याकुलता बढ़ेगी। यदि इतनी व्याकुलता न आये, तो समझना होगा कि अभी भी समय नहीं आया है।''[१३] इस प्रकार सच्ची आध्यात्मिक स्पृहा की पहली कसौटी इसकी स्वाभाविकता है।

दूसरी कसौटी इसकी सर्वोच्चता है। सच्ची आध्यात्मिक स्पृहा अन्य सभी कामनाओं के ऊपर चली जाती है। यह अन्य सभी कामनाओं को अपने अधीन करके व्यक्ति का चरम साध्य बन जाती है। सामजस्य एक तीसरी कसौटी है। यह सभी अनुभूतियों में सामजस्य स्थापित करती है। आकुल आत्मा के लिए हर भली-बुरी अनुभूति का कुछ तात्पर्य होता है और यह उसकी व्याकुलता में तीव्रता लाती है।

बल इसकी एक और भी निर्णायक कसौटी है। सच्ची आध्यात्मिक स्पृहा व्यक्ति में प्रभूत धैर्य पैदा करती है। वह मानसिक शान्ति की परवाह नहीं करता और न आध्यात्मिक अभियान में अपरिहार्य रूप से आनेवाली बाधाओं तथा सघर्षों से विचलित होता है। वह अकेलेपन तथा नीरसता से घबराये बिना अपनी पूरी शक्ति के साथ लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। जो व्यक्ति अपने हृदय में दिव्य आकाक्षा की ज्योति को लेकर चलता है, उसके मार्ग को रोकने की सामर्थ्य दुनिया की किसी भी शक्ति में नहीं है।

एक अन्य उतनी ही महत्त्वपूर्ण कसौटी यह है कि सच्ची आध्यात्मिक स्पृहा सर्वदा ही मन की पवित्रता के लिए एक तीव्र व्याकुलता तथा सघर्ष उत्पन्न करती है। जब हृदय की वेदी पर स्पृहा की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तभी साधक वेदी को पूर्णतः स्वच्छ रखने की सच्ची आवश्यकता अनुभव करने लगता है। श्रीरामकृष्ण अपने एक दृष्टान्त में कहते हैं कि एक नौकर के घर की हालत देखकर पता चल जाता है कि उसके मालिक वहाँ आनेवाले हैं। आसपास के जंगल की सफाई हो गयी है और घर का परिसर भी झाड़-बुहार लिया गया है। फिर जमींदार स्वय ही अपनी दरी, हुक्का आदि भेज देता है। इसी प्रकार जब किसी भक्त में विवेक, वैराग्य, जीवों के प्रति दया, साधुसेवा, साधुसग, ईश्वर का नामगुण-कीर्तन, सत्य वचन, आदि अनुराग के ऐश्वर्य प्रकाशित होने लगते हैं, तब कहा जा सकता है कि उसके लिए ईश्वरप्राप्ति में अब अधिक देर नहीं है।[१४] किसी भी प्रकार की व्याकुलता, यदि

९. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. ३२७

१०. Swami Tapasyananda, Sri Sarada Devi, Ed. 1969, p 332

११. Swami Yatiswarananda, The Adventures in Religious Life, Ed 1962, p 262

१२. Swami Tapasyananda, Sri Sarada Devi, Ed. 1969, p. 333

१३. आनन्दधाम की ओर, सं. १९८६, पृ. ५

१४. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. १७७-७८

अपने साथ ही पवित्रता एवं शुचिता की आकाक्षा भी उत्पन्न नहीं करती, तो वह सच्ची व्याकुलता नहीं हो सकती। उसे शंका की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

आध्यात्मिक स्पृहा में बाधाएँ – प्रायः पूछा जाता है कि सभी लोगों को ईश्वर के लिये व्याकुलता का अनुभव क्यों नहीं होता? श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, "भोग का अन्त हुए बिना व्याकुलता नहीं होती। कामिनी-कांचन की भोग-वासना जितनी है, उनकी तृप्ति हुए बिना जगन्माता की याद नहीं आती। बच्चा जब खेल में लगा रहता है, तब तक वह माँ को नहीं चाहता। हृदय का लड़का कबूतर लेकर खेल रहा था, 'आ-ती-ती' करके कबूतर को बुला रहा था। जब उसे खेल से तृप्ति हो गयी, तब उसने रोना शुरू कर दिया। तब एक बिना पहचान के आदमी ने आकर कहा – 'आ, तुझे तेरी माँ के पास ले चलूँ'।"[१५]

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "जब तक हमारी जरूरतें इस भौतिक सृष्टि की सकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओं तक ही परिमित रहती हैं, तब तक हमें ईश्वर की कोई जरूरत नहीं पड़ती। जब हम यहाँ की हर चीज से तृप्त होकर ऊब जाते हैं, तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस सृष्टि के परे दौड़ती है।"[१६]

यहाँ तक कि जो लोग ईश्वर के लिये सच्ची व्याकुलता का अनुभव करते हैं, वे भी इसे स्थिर तथा निरन्तर बनाये रख पाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। स्पृहा की अग्नि में निरन्तर ईंधन डालते रहकर उसे प्रज्वलित रखना होगा। हमारे जीवन में ऐसी अनेक शक्तियाँ क्रियाशील हैं, जो इस अन्तर-अग्नि को शान्त करने में लगी रहती हैं। इनमें पहली है नास्तिक या अनैतिक लोगों का संग। ससार भर के आधुनिक समाज में अनैतिकता और नास्तिकता एक जहरीले सक्रामक रोग की तरह फैलती जा रही हैं। सार्वजनिक स्थानों, दफ्तरों, औद्योगिक सस्थानों आदि में ऐसे लोगों के संसर्ग से बच पाना कठिन है। परन्तु ऐसे लोगों के प्रभाव से अपनी स्पृहा को बचाने के लिए हमारे पास तकनीक भी होना जरूरी है।

समुदाय की इच्छा के सामने हथियार डाल देना, आध्यात्मिक स्पृहा की दूसरी बाधा है। हम परिवार, दफ्तर, क्लब या मठ रूपी समाज की जिस इकाई में हम रहते या काम करते हैं, उसमें यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपने सदस्यों को औसत के स्तर पर खींच लाती है। अतः यदि साधक सावधान नहीं रहा, तो अच्छे लोगों के संग के द्वारा भी उसकी आकाक्षा के दमित हो जाने की सम्भावना है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मानवद्वेषी या एकाकी हो जाय। उसे न तो स्वय में दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठता का भाव रखना चाहिए और न ही समुदाय के समक्ष अपनी आकांक्षा की बलि चढ़ा देनी चाहिए। बल्कि उसे इसमें तीव्रता लाते हुए अपने चारों ओर पवित्रता, प्रेम और आध्यात्मिकता का विकिरण करनेवाला दिव्यता का एक केन्द्र बन जाना चाहिए। पूरे समुदाय में यदि एक भी ऐसा व्यक्ति हो, तो वह अपने जीवन के द्वारा ही अपने आसपास के लोगों के मन को ऊपर उठा सकता है तथा और भी अनेक लोगों के लिए प्रेरणा तथा सहारा बन सकता है और इस प्रकार वह आधुनिक युग के लिए परम आवश्यक एक तरह की सामाजिक सेवा का सम्पादन कर सकता है।

कभी अनेक मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि किसी समाज की आचार-संहिता के अनुसार जीवन बिताना ही सही दिमाग की कसौटी है। परन्तु आधुनिक काल के अब्राहम मैस्लो, कार्ल रोजर्स, एसेन्क, एरिक फ्रॉम तथा अन्य प्रमुख मनोवैज्ञानिकों ने इस धारणा के दोषों की ओर संकेत किया है। अब्राहम मैस्लो पूछते हैं, "यहूदियों के प्रति क्रूर पैशाचिक आचरण करनेवाले वे नाजी सैनिक तथा डॉक्टर स्नायुरोग से अधिक ग्रस्त थे या फिर उनके वे अभागे शिकार, जिनमें से अनेक इसके फलस्वरूप मानसिक रूप से विक्षिप्त हो गये?" यहाँ तक कि सामान्य सामाजिक जीवन में भी यह सोचना भूल होगा कि बहुमत के नियमानुसार चलना ही सही दिमाग का द्योतक है। एरिक फ्रॉम कहते हैं, "बल्कि इसके विपरीत हमारे समाज के बहुसख्य लोग भलीभाँति समायोजन किये हुए हैं, क्योंकि उन्होंने स्नायुरोगी की अपेक्षा पहले से ही तथा मूल रूप से स्वाधीनता के लिए सघर्ष करना छोड़ दिया है। उन्होंने इतनी पूर्णता के साथ बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लिया है, कि उन्हें स्नायुरोगी द्वारा झेली जानेवाली सघर्ष की तीव्र पीड़ा से मुक्ति मिल चुकी है। 'सामजस्य' की दृष्टि से वे भले ही स्वस्थ हों, परन्तु अपने मानव-जीवन के उद्देश्यों के रूपायन की दृष्टि से वे वस्तुतः स्नायुरोगी की अपेक्षा अधिक बीमार हैं। ... वह (समायोजित व्यक्ति) यदि कार्य में व्यस्त नहीं है, तो उसे अकेलेपन, लाचारी तथा मानवीय असहायता की भयावह अनुभूति से बचने के लिए हमारी सस्कृति द्वारा उपलब्ध कराये गये 'पलायन' के अनेक मार्गों में से किसी एक को अपनाना होगा।"[१८]

१५. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. ४३८

१६. विवेकानन्द साहित्य, भाग ९, पृ. १९-२०

१७. Abraham Maslo, 'Personality Problems and Personality Growth', in *The Self* ed Clark E Moustakas, 1956

१८. Eric Fromm, *Psychoanalysis and Religion* (New York Bantam Books, 1967), p 80

व्यक्ति की अपनी स्वाधीनता ही उसकी परिपक्वता की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी तथा उसके द्वारा किसी भी प्रकार की उत्कृष्टता के प्रयास में एक प्राथमिक शर्त है। हर किसी को मृत्यु की शैया पर खींचना समाज की प्रवृत्ति है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कुछ उच्च या रचनात्मक उपलब्धि करना चाहता है, तो सर्वप्रथम उसे इस मृत्युशैय्या से दूर रहना होगा तथा भीड़ का अनुसरण छोड़ देना होगा। कई समकालीन लोगों द्वारा पागल करार दिये गये अपने महान् गुरु श्रीरामकृष्ण के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''यदि कोई मनुष्य जगत् की निस्सार वस्तुओं का त्याग कर देता है, तो लोग उसे पागल कहते हैं। परन्तु ऐसे ही पागलपन से वे शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिन्होंने इस ससार को हिला दिया है और ऐसे ही पागलपन से भविष्य में ऐसी शक्तियों का जन्म होगा, जो हमारे ससार में उथल-पुथल मचा देंगी।''[१९]

वैसे इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधक को अपने आसपास के लोगों से लड़ने में अपना समय तथा ऊर्जा नष्ट करनी चाहिए, बल्कि यह कि उसे हर किसी के सामने अपनी स्वस्थचित्तता को प्रमाणित करने में अपना समय तथा ऊर्जा बरबाद न करते हुए समुदाय के समक्ष अपनी आकाक्षा की बलि नहीं चढ़ा देनी चाहिए। इसकी जगह उसे एक स्वस्थ एवं सन्तुलित जीवन बिताना चाहिए और इस तरह शारीरिक तथा मानसिक स्तर पर प्राप्त स्वाधीनता का उपयोग अपनी आत्मा को प्रभु के पादपद्मों तक उठाने के लिए करना चाहिए। सामाजिक सम्बन्धों के सभी मामलों में स्वामी तुरीयानन्द जी की यह सलाह सम्भवतः व्यावहारिक नीति के रूप में अपनायी जानी चाहिए, ''विचारों के मामले में प्रवाह के साथ बहो, परन्तु सिद्धान्तों के मामले में चट्टान की भाँति अडिग रहो।''

समुदाय के प्रति हमारे समर्पण का एक अन्य अभिव्यक्ति है – छोटी-मोटी चीजों से ऊपर उठने में हमारी अक्षमता। अपने आध्यात्मिक जीवन में तीव्रता लाने के अधिकांश लोगों के प्रयास में स्थूल अनैतिकता या बुराइयाँ नहीं, बल्कि दैनन्दिन जीवन की ऐसी छोटी-मोटी चीजों में अतिव्यस्तता बाधक होती है, जो हृदय की आकुलता को आच्छन्न कर लेती है। हर मनुष्य के भीतर प्रचण्ड शक्ति तथा आध्यात्मिक सम्भावना निहित है, पर जैसे एक हाथी एक-छोटे-से अंकुश के द्वारा रोक लिया जाता है, वैसे ही बहुसख्यक लोग नगण्य चीजों में निरन्तर रुचि के कारण आध्यात्मिक जीवन में ऊपर उठने से वंचित रह जाते हैं। जीवन की दिनचर्या उनके सम्पूर्ण चित्त को आकृष्ट किये रहती है, जबकि उनकी बद्ध आत्माएँ आनेवाले कल, कल और कल की प्रतीक्षा करती रहती हैं, जो सदा के लिए उनसे निरन्तर दूर होता जाता है।

आध्यात्मिक स्पृहा की तीसरी बाधा आत्मभ्रान्ति है। जो साधक जो साधना के प्रारम्भ से ही सोचता है कि उसे अद्भुत दर्शन तथा अनुभूतियाँ प्राप्त हो रही हैं, वह मिथ्या सन्तोष के द्वारा अपनी आकाक्षा को निष्प्रभावी बना रहा है। इस तरह की दम्भपूर्ण आत्मश्रद्धा का कोई इलाज नहीं है और यह अकाल आध्यात्मिक मृत्यु के रूप में समाप्त हो सकती है।

<u>आध्यात्मिक स्पृहा की द्वन्द्वात्मक अवस्था</u> – आध्यात्मिक स्पृहा मानवीय विकास के नियम का एक अश है। सभी प्राणियों में अस्तित्व के उच्चतर भूमि पर पहुँचने की एक सोद्देश्य स्पृहा होती है। मनुष्य मे मनो-सामाजिक विकास के स्तर पर यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक आकांक्षा के रूप में अभिव्यक्त होती है।

इच्छा मन में एक तनाव उत्पन्न करती है, जिसे हम दैहिक या मानसिक साधनों के द्वारा घटाने का प्रयत्न करते हैं। एक तरह से कहा जा सकता है कि हमारी सभी सामान्य क्रियाएँ केवल तनाव को कम करने के लिए ही होती हैं। जब निम्नतर तनावों पर कुछ हद तक विजय प्राप्त कर लिया जाता है, तभी आध्यात्मिक स्पृहा स्वय को पूरी तौर से व्यक्त कर सकती है। परन्तु आध्यात्मिक स्पृहा हममें एक उत्कृष्ट प्रकार का तनाव भी उत्पन्न करती है, जिसे निम्न प्रकार का कोई भी प्रयास घटा नहीं सकता। इस तनाव को केवल सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति ही शान्त कर सकती है। सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति अर्थात् उच्चतर चेतना तथा आनन्द को प्राप्त करने के लिए सतत संघर्ष को ही आध्यात्मिक जीवन कहते हैं।

यह संघर्ष अपने स्वभाव से ही एक पेंचदार मार्ग अपनाता है। कुछ काल तक ऊपर जाने के बाद साधक नीचे उतरता हुआ-सा बोध करता है। परन्तु यह प्रायः एक आभासिक गति मात्र होती है, क्योंकि आकाक्षा पुनः ऊपर उठती है। तथापि आध्यात्मिक स्पृहा हमेशा एक जैसी नहीं रहती। यह ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर ऊपर की ओर अग्रसर होती है, त्यों त्यों अपनी प्रकृति बदलती जाती है। इस ऊर्ध्वगमन के तीन स्तर हैं।

सेंट पाल अपने एक सुप्रसिद्ध पत्र में कहते हैं, ''और अब विश्वास, आशा, प्रेम – ये तीन, पर इनमें सबसे महान् प्रेम है।''[२०] यहा 'प्रेम' का अर्थ ईश्वर के प्रति विशुद्ध प्रेम है। ईसाई आध्यात्मिकता में विश्वास, आशा और प्रेम शास्त्रीय सद्गुण कहलाते हैं और अन्य सभी गुणों से श्रेष्ठ माने गये हैं। प्रथम दृष्टि में तो ये तीनों एक जैसे ही दिखते, परन्तु जब हम

१९. विवेकानन्द साहित्य, भाग ७, पृ. २५१-५२

२०. कोरोन्थियनों के नाम पत्र, १३/१३

उनका वास्तविक स्वरूप समझते हैं, तो हम पाते हैं कि ये आध्यात्मिक आकाक्षा के ऊर्ध्वगामी क्रम में तीन विशिष्ट स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आध्यात्मिक स्पृहा की सबसे निचली अवस्था *विश्वास* है, जो कि साधक के आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक स्थिति है। यद्यपि उसे उच्च सत्ता (या ईश्वर) की कोई प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हुई है, तथापि वह एक रहस्यमय ढग से उसकी सत्यता पर दृढ़ विश्वास और उसके लिए एक अदम्य आकर्षण का बोध करता है। पर विभिन्न विरोधी विचार तथा भाव निरन्तर उसके मन प्रहार करते रहते हैं और वह उनसे ऊपर उठने के लिये कठोर सघर्ष करता रहता है। यह साधक के जीवन का सर्वाधिक कठिन समय होता है। यद्यपि यह एक प्रारम्भिक साधक की अवस्था है, पर यह कई वर्षों तक बनी रह सकती है। इस अवधि में धर्मग्रन्थों का अध्ययन तथा महात्माओं की सगति ही उसे आवश्यक सहारा दे सकती है।

जब साधक को, शायद वर्षों के सच्चे संघर्ष के बाद उच्च सत्ता की पहली या दूसरी 'झलक' मिलती है, स्पृहा तब *आशा* का रूप ग्रहण कर लेती है। यह उच्चतर 'आध्यात्मिक' आशा मनोरथों के समान नहीं होती। यह प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होती है और विश्वास या श्रद्धा के रूपान्तरण का परिणाम है। यद्यपि प्रारम्भिक अनुभूति अधिक काल तक न भी रहे, तो यह अपने पीछे एक गहरा आध्यात्मिक निश्चय छोड़ जाती है। इसके बाद साधक को पक्की धारणा हो जाती है कि उसके प्रयास व्यर्थ नहीं जायेंगे और उसका आध्यात्मिक सौभाग्य देर-सबेर पूर्णता को प्राप्त होनेवाला है। उसे अपनी अन्तरात्मा के स्वप्रकाश स्वरूप के विषय में एक स्पष्ट अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। केवल इसी अवस्था से ईश्वर के लिए वास्तविक खोज आरम्भ होती है।

स्पृहा अपनी तीसरी अवस्था में ईश्वर के प्रति सच्चे प्रेम में परिणत हो जाती है। यह शुद्ध *प्रेम* कोई संवेग नहीं है। यह उच्चतर चेतना के निर्वाप्य ज्योति का प्राकट्य है। जब व्यक्ति को *परा भक्ति* नामक इस सर्वोच्च प्रकार की आध्यात्मिक स्पृहा की उपलब्धि हो जाती है, केवल तभी वह ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करने के योग्य होता है।

विश्वास, आशा एव प्रेम – ये तीन अवस्थाएँ सभी लोगों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं भी हो सकती हैं, परन्तु प्रत्येक सच्चा साधक आध्यात्मिक जीवन में ज्यों ज्यों प्रगति करता जाता है, त्यों त्यों उसकी स्पृहा पवित्रतर, उज्ज्वलतर तथा बलवत्तर होती जाती है, तब तक जब तक कि अन्ततः वह दिव्यता की ज्योति से आलोकित नहीं हो उठती।

अन्त में, हर आध्यात्मिक आकाक्षी को यह बात स्मरण रखनी चाहिए। सभी लोगों को आध्यात्मिक स्पृहा का अनुभव नहीं होता। हजारों में से कोई एक ही इसका अनुभव करता है। सम्भवतः दीर्घ काल तक इस ससार में आवागमन करने के बाद ही मनुष्य के हृदय में सच्ची आकाक्षा का उदय होता है। यदि तुम्हारे भीतर तीव्र आकाक्षा का बोध हो, तो तुम्हें यह जान लेना चाहिए कि तुम अपनी वास्तविक आत्मा की अभिव्यक्ति के द्वार पर खड़े हो और तुम्हारी भावी उन्नति, तुम्हारा सच्चा सुख, तुम्हारे जीवन की परिपूर्णता इस बात पर निर्भर है कि इस नयी व्याकुलता के साथ क्या करते हो। यदि तुम अपने हृदय की गहराई में उस दिव्य पुकार को सुनते हो, तो तुम्हें आनन्द मनाना चाहिए, क्योंकि तुम्हारा समय आ चुका है। अब तुम शाश्वत सूर्योदय का दर्शन करने ही वाले हो। तुम इस नये प्रभात से पीठ फेर सकते हो और पुनः अँधेरे में जाकर इसकी छायाओं के साथ मिलकर मृत्यु के घिनौने नृत्य में शामिल हो सकते हो। अथवा तुम ज्ञानसूर्य के सम्मुखीन होकर अमृतत्व की स्वर्णधूलि से आच्छादित आलोकमय पथ पर चल सकते हो। ❑

अफगानिस्तान के हिन्दू राजा

कुछ वर्षों पूर्व उत्तरी अफगानिस्तान के मजारे-शरीफ नगर में प्राप्त एक शिलालेख से उस देश के हिन्दू शाही शासक वेका के राज्यकाल पर नया प्रकाश पड़ता है।

कलकत्ते में हो रहे भारतीय इतिहास कांग्रेस में भाग लेने आये कायदे आजम विश्वविद्यालय, इस्लामाबाद (पाकिस्तान) के प्रमुख तथा पुरातत्त्वविद् अहमद हसन दानी ने इस शिलालेख के उद्धार तथा उसके महत्त्व के विषय में बोलते हुए कहा कि इससे हिन्दू राजा वेका तथा उनकी शिव-भक्ति के बारे में ज्ञात होता है।

श्री दानी ने बताया कि इस शिलालेख पर वर्ष १३८ लिखा हुआ है, जो ९५९ ई. का द्योतक है, जो भीमपाल का समय था। १०वीं सदी की संस्कृत भाषा तथा 'पश्चिमी सारदा' लिपि में अंकित ११ पंक्तियों के इस लेख में कई वर्त्तनी की भूलें भी हैं। उन्होंने बताया कि शिला का ऊपरी बायाँ कोना थोड़ा-सा टूटा होने के कारण उस पर पहला अक्षर - 'ॐ' नहीं मिलता।

इस लेख के अनुसार "महाराज वेका ने अपनी आठ प्रकार की शक्तियों के द्वारा पृथ्वी, बाजारों, तथा किलों को अपने अधीन कर लिया था। उन्हीं के राज्यकाल में मैत्यस्य में परिमहा (महान्) द्वारा अपने तथा पुत्रों के कल्याणार्थ उमा के साथ आलिंगनबद्ध शिव का एक मन्दिर बनाया गया।"

जहाँ पैगम्बर मुहम्मद के दामाद हजरत अली की दरगाह स्थित है, उस मजारे शरीफ से यह शिलालेख पाकिस्तान लाया गया और वर्तमान में इस्लामाबाद संग्रहालय में रखा गया है।

उन्होंने और भी बताया, "इस शिलालेख में शाही वेका राजा का नाम है और उन्हें 'इर्यातुमतु क्षंगिनांक' की उपाधि दी हुई है। वे वही राजा प्रतीत होते हैं, जिन्हें खिंगिला या खिन्खिला कहा गया है और शाही राजा के रूप में स्वीकार किया गया है।

श्री दानी ने कहा, "वे वेकादेव के पूर्वज हो सकते हैं, क्योंकि उनके सिक्के अफगानिस्तान में पाये गये हैं और अरब शासक याकूबी द्वारा भी उनका उल्लेख किया गया है। वे सम्भवतः वेकादेव के निकट पूर्वज हो सकते हैं। शिलालेख तथा सिक्कों – दोनों ही प्रमाणों से संकेत मिलता है कि वेका या वाका को उत्तरी अफगानिस्तान का एक स्वतंत्र शासक माना जा सकता है।

"इस प्रकार हमें हिन्दूकुश के उस पार अफगानिस्तान के उत्तरी हिस्से में एक अन्य शाही राजवंश का पता चलता है। कहा गया है कि वेका ने अपनी आठ प्रकार की शक्तियों के द्वारा पृथ्वी, बाजारों, तथा किलों पर अधिकार किया था। इससे लगता है कि उन्होंने दक्षिणी अफगानिस्तान के अरब शासकों पर विजय पायी होगी।"

इस खोज के आधार पर यह लगता है कि हिन्दू शाही राजा भीमपाल के काल में राजवंश में विभाजन हुआ था। जयपाल के अधीन एक शाखा ने लमघान तथा पंजाब पर और वेका के अधीन दूसरी शाखा ने अफगानिस्तान के उत्तरी भाग पर शासन किया। श्री दानी का मत है कि १०वीं सदी के उत्तरार्ध में अल्प्टीजिन के विजय अभियान के समय यह उत्तरी शाखा समाप्त हो गयी होगी।

छत्तीसगढ़ में प्रागैतिहासिक मानव

पुराविदों की मान्यता है कि छत्तीसगढ़ की धरती वर्षों पूर्व आदि मानव की कर्मस्थली थी। दावा यहाँ तक किया गया है कि आदिमानव की सभ्यता यहीं पनपी थी। ऐसे साक्ष्य एकत्र किये गये हैं, जो संकेत करते हैं कि छत्तीसगढ़ या प्राचीन कोसल क्षेत्र मानव-जाति की सभ्यता की जन्मस्थली थी।

रायगढ़ के सिंघनपुर की चित्रित गुफाओं की खोज के दौरान पाषाण काल की पाँच कुल्हाड़ियाँ प्राप्त हुई थीं, जिन्हें पाषाण-कालीन सभ्यता के प्रमाण के रूप में संरक्षित किया गया है। रायगढ़ से १६ किलोमीटर दूर कबरा पहाड़ में प्राप्त शिलाचित्र विश्व के पुरा इतिहासज्ञाताओं के आकर्षण के केन्द्र बने। ये शिलाचित्र लाल रंग से उकेरे गये हैं। इनमें कुछ प्रतीकात्मक चित्रों के अलावा पंक्तिबद्ध मनुष्य और घड़ियाल, सांभर तथा अन्य पशु दिखाई देते हैं। परन्तु इन चित्रों की अधिकृत व्याख्या अभी तक नहीं हो पायी है। अत्यन्त प्राचीन चित्रोंवाली इस गुफा की खोज १९१० ई. में रेलवे के एक इंजीनियर ने की थी। इसे गुफा की अपेक्षा एक पर्वतीय आश्रय कहना अधिक उपयुक्त होगा। आड़ी-सीधी लकीरें खींचकर यहाँ बनाये गये चित्रों से मनुष्य की आकृतियाँ झलकती हैं। एक चित्र में डण्डों से लैश मनुष्य आक्रमण की मुद्रा में एक बड़े जीव का पीछा करते हुए दौड़ता प्रतीत होता है। एक अन्य चित्र में एक मनुष्य की एक पशु से मुठभेड़ का चित्रांकन है। हाल ही में संकलित नयी सूचना के अनुसार लोहारा से १६ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में चितवा डोगरी नामक पहाड़ी पर भी कुछ प्राक्-ऐतिहासिक शैलचित्र मिले हैं। ये शैलचित्र १० से १५ फुट की ऊँचाई पर हैं, जिनमें गहरे लाल व भूरे रंगों से मनुष्यों तथा पशुओं की आकृतियाँ चित्रित की गयी हैं। प्रागैतिहासिक अवशेषों के रूप में इनका गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाना बाकी है।
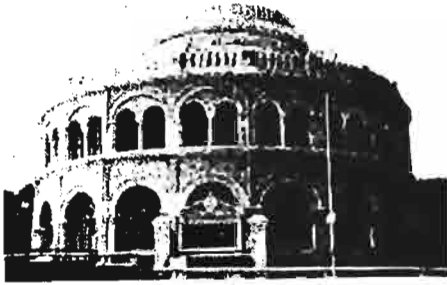
श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नै - ६०० ००४

फोन - ४९४१२३१, ४९४१९५९, फॅक्स : ४९३४५८९

Website www.sriramakrishnamath.org

email srkmath@vsnl.com

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिये विवेकानन्दार इल्लम एक ऐतिहासिक भवन तथा पावन तीर्थ है। उन्होंने इस भवन में पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

आपको ज्ञात होका कि स्वामी विवेकानन्द एक शताब्दी पूर्व - १८९७ ई की फरवरी में चैन्नै के इस भवन में पधारे थे, जो उन दिनों आइस हाउस या कैसिल कर्नन के नाम से प्रसिद्ध था। उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोद्दीपक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं।

यह भवन दक्षिणी भारत के सर्वप्रथम रामकृष्ण मठ का भी आश्रय रहा है। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान् सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में १८९७ ई. से १९०६ ई. तक इसी भवन में रामकृष्ण मठ चलता रहा।

इस भवन का जीर्णोद्धार करके इसमें 'स्वामी विवेकानन्द तथा भारतीय संस्कृति' पर एक स्थायी प्रदर्शनी बनाने हेतु तमिलनाडु सरकार ने यह भवन हमें लीज पर दे दिया है। भवन के जीर्णोद्धार का कार्य पूरा हो चुका है और तमिलनाडु के माननीय मुख्यमत्री के हाथों २० दिसम्बर १९९९ को इस प्रदर्शनी का प्रथम चरण का उद्घाटन किया गया। इस प्रथम चरण की परियोजना पर रु. ६५ लाख का खर्च आया है। द्वितीय तथा तृतीय चरण के कार्य शीघ्र ही आरम्भ होनेवाले हैं, जिन पर रु. ८५ लाख का व्यय होने का अनुमान है। इस प्रदर्शनी के रख-रखाव के लिए भी रु. ५० लाख का एक स्थायी कोष बनाने की आवश्यकता होगी।

अब तक हम दान के द्वारा केवल रु. १५ लाख ही एकत्र कर सके हैं। आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के आशीर्वाद के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। कृपया क्रास किये हुए चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मान्वता की सेवा में आपका,

स्वामी गौतमानन्द

अध्यक्ष